श्री जैनसिद्धान्त बोल-संग्रह सातवां भाग

का

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	४	ममय	मग्गत्थं
२	६	खीए	खीणा
३	१	वरए	वर्ण
३	४	आयात	आयत
४	८	हल्के	हल्के हैं
१०	११	करणोत्पादक	करुणोत्पादक
११	१४	धाया	धाय
१४	२	संसार	संसर्ग
१८	६	होले	होने
२१	६	योग	योगों
२४	१०	उदाहरण	उदाहरण
३५	११	पृत्वी	पृथ्वी
४२	१६	करण	कारण
५३	१३	श्रुत्रज्ञान	श्रुतज्ञान
६४	२०	रत्नाधिक	रत्नाधिक
६७	१२	आशक्ति	अशक्ति
६७	७	ज्ञाना	ज्ञानं
१०२	८	एवंधूत	एवंभूत
१०४	२१	विपय	विपय
१०५	२६	श्रुतज्ञानीअचदर्शन	श्रुतज्ञानी अचक्षुदर्शन
११०	१८	चउब्भए	चउब्भाए
११२	६	अगुणाए	अगुणणाए
११६	५	अनागार	अनगार
१२३	७	मणंतए	मणंतेण
१२४	१५	क्योंकी	क्योंकि
१२५	३	भएयाव्वु	भइयव्वो
१२६	१	अद्धमागहाए	अद्धमागहीए

श्री सेठिया जैन ग्रन्थमाला पुष्प नं० १०६

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह

सातवाँ भाग

(बोल ३१ से ५७ तक)

(बोल नं० ९६१ से १०१२ तक)

श्री हंसराज बच्छराज नाहटा
सरदारशहर निवासी
द्वारा
जैन विश्व भारती, लाडनूं
को सप्रेम भेंट –

अगरचन्द भैरोंदान सेठिया
जैन पारमार्थिक संस्था
बीकानेर (राजस्थान)

विक्रम संवत् २००९
दीपमालिका
वीर संवत् २४७९

न्योछावर
केवल ३।।) रु० भी
ज्ञान खाते में लगेगा
महसूल खर्च अलग

द्वितीयावृत्ति
१०००

एज्यूकेशनल प्रेस, बीकानेर ता० १८-१०-५२

विषय सूची

आभार प्रदर्शन

श्रीमान् जैनाचार्य पूज्य श्री १००७ श्री गणेशीलालजी महाराज साहब ने महती कृपा फरमाकर, हमारी प्रार्थना से इस भाग के कतिपय बोल सुनने की कृपा की है। आपकी अमूल्य सूचनाओं से हमें विशेष ज्ञान लाभ हुआ है। अतएव हम पूज्य श्री का परम उपकार मानते हैं। श्रीमान् मुनि श्री १००७ श्री बड़े चाँदमलजी महाराज साहब श्रीघासी-लालजी महाराज साहब तथा अन्य मुनिवरों ने भी कई एक बोल सुनने की कृपा की है। बोलों के सम्बन्ध में आप श्रीमानों ने भी हमें अमूल्य सूचनाएं देकर अनुगृहीत किया है। अतएव आप श्रीमानों के प्रति भी यह समिति कृतज्ञता प्रकाश करती है। आप मुनिवरों की कृपा का यह फल है कि हम पुस्तक को विशेष उपयोगी एवं प्रामाणिक बना सके हैं।

निवेदक–पुस्तक प्रकाशन समिति

(द्वितीयावृत्ति के सम्बन्ध में)

शास्त्रमर्मज्ञ पंडित मुनि श्री पन्नालालजी म. सा. ने इस भाग का दुबारा सूक्ष्मनिरीक्षण करके संशोधन योग्य स्थलों के लिये उचित परामर्श दिया है। अतः हम आपके आभारी हैं।

वयोवृद्ध मुनि श्री सुजानमलजी म. सा. के सुशिष्य पं० मुनिश्री लक्ष्मी-चन्दजी म. सा ने इसकी प्रथमावृत्ति की छपी हुई पुस्तक का आद्योपान्त उपयोग पूर्वक अवलोकन करके कितनेक शंका स्थलों के लिये सूचना की थी। उनका यथास्थान संशोधन कर दिया गया है। अतः हम उक्त मुनि श्री के आभारी हैं।

इसके सिवाय जिन २ सज्जनों ने आवश्यक संशोधन कराये और पुस्तक को उपयोगी बनाने के लिये समय समय पर अपनी शुभ सम्मतियाँ प्रदान की हैं उन सब का हम आभार मानते हैं।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ के प्रणयन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मुझे जिन जिन विद्वानों की सम्मतियों और ग्रन्थ कर्त्ताओं की पुस्तकों से लाभ हुआ है उनके प्रति मैं विनम्र भाव से कृतज्ञ हूँ।

जैन प्रेस बीकानेर

निवेदक—भैरोदान सेठिया

प्रश्न बोल नं० पृष्ठ

दो शब्द

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह के सातवें भाग की द्वितीयावृत्ति पाठकों के सामने प्रस्तुत है। इसकी प्रथमावृत्ति संवत् २००० में प्रकाशित हुई थी। पाठकों को यह बहुत पसन्द आई। इसलिए थोड़े ही समय में इसकी सारी प्रतियां समाप्त हो गईं। इस ग्रन्थ की उपयोगिता के कारण इसके प्रति जनता कि रुचि इतनी बढ़ी कि हमारे पास इसकी मांग बराबर आने लगी। जनता की मांग को देख कर हमारी भी यह इच्छा हुई कि इसकी द्वितीयावृत्ति शीघ्र ही छपाई जाय किन्तु प्रेस की असुविधा के कारण इसके प्रकाशन में विलम्ब हुआ है। फिर भी हमारा प्रयत्न चालू था। आज हम अपने प्रयत्न में सफल हुए हैं। अतः इसकी द्वितीयावृत्ति पाठकों के सामने रखते हुए हमें आनन्द होता है।

प्रमाण के लिये उद्धृत ग्रन्थों की सूची प्रायः इसके भाग १ से ५ और ८ भाग के अनुसार है। और बोलों के नीचे सूत्र और ग्रन्थ का नाम प्रमाण के लिये दिया हुआ भी है। बोल संग्रह पर विद्वानों की सम्मतियाँ प्राप्त हुई हैं। वे भी कागज की कमी के कारण इस मे नहीं दी जा सकी हैं।

'पुस्तक शुद्ध छपे' इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखा गया है फिर भी दृष्टिदोष से तथा प्रेस कर्मचारियों की असावधानी से छपते समय कुछ अशुद्धियां रह गई हैं इसके लिए पुस्तक में शुद्धिपत्र लगा दिया गया है। अतः पहले उसके अनुसार पुस्तक सुधार कर फिर पढ़ें। इनके सिवाय यदि कोई अशुद्धि आपके ध्यान में आवे तो हमें सूचित करने की कृपा करें ताकि आगामी आवृत्ति में सुधार कर दिया जाय।

वर्तमान समय में कागज, छपाई और अन्य सारा सामान महंगा होने के कारण इस द्वितीयावृत्ति की कीमत बढ़ानी पड़ी है।

निवेदकः—

मन्त्री

श्री अगरचन्द भैरोदान सेठिया

जैन पारमार्थिक संस्था

बीकानेर

पुस्तक मिलने का पता—

अगरचन्द भैरोदान सेठिया

जैन पारमार्थिक संस्था,

मोहल्ला मरोटीयां का

बीकानेर (राजस्थान)

१२८	१२	पत्रादि	पात्रादि
१२८	१६	जोवों	जीवों
१३०	२०	वितिच्छेयं	वित्तिच्छेयं
१३३	८	दुर्लभतो	दुर्लभता
१३४	१५	गोतम	गौतम
१३७	२३	सयय	समय
१६३	३	याला	वाला
१६६	११	जाय	जया
१६८	१२	परिवेतव्वा	परिघेतव्वा
१६८	२३	सत्र	सूत्र
१७३	१६	व्ययस्थित	व्यवस्थित
१७४	६	अभित्त	अमित्त
१७४	२१	मूसावाओ	मुसावाओ
१८०	१३	विप	विय
१८०	२०	दाणाव	दाणव
१९०	१६	एय	एवं
१९२	२	भ गान्	भगवान्
१९६	२०	दुरासयं	दुरासयं पि
२१२	५	वित्तं	दित्तं
२१४	९	दुरुद्धारणि	दुरुद्धाणि
२१८	२०	संदरो	सुंदरो
२२९	१७	सम्बन्धी	सम्बन्धों
२३३	७	विचारना	विचरना
२३३	१०	दयति	वयंति
२३५	१३	मावार्य	भावार्थ
२५२	१८	व अगाहना	अवगाहना
२५४	२०	कादपप	कासगप
२५९	६	आरण्य	अरण्य

प्राप्तिस्थान
श्री अगरचन्द भैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था
लायब्रेरी भवन बीकानेर (राजस्थान)

अकाराद्यनुक्रमणिका

बोल नं० पृष्ठ

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह

(सातवां भाग)

मङ्गलाचरण

सर्वज्ञमीश्वरमनन्तमसंगमग्र्यं ।
सार्वीयमस्मरमनीशमनीहमिद्धम् ॥
सिद्धं शिवं शिवकरं करणव्यपेतं ।
श्रीमज्जिनं जितरिपुं प्रयतः प्रणौमि ॥ १ ॥
श्रीमत्पार्श्वजिनं नत्वा, स्मृत्वा च गुरुदेवताम् ।
सिद्धान्तसंग्रहे भागः सप्तमोऽयं विरच्यते ॥ २ ॥

(१) सर्वज्ञ, ईश्वर, अनन्त, असंग, प्रधान, सर्वहितावह, अस्मर (वासनारहित), अनीश (स्वामी रहित), अनीह (इच्छा रहित), तेजस्वी, सिद्ध, शिव, शिवकर, करण अर्थात् इन्द्रिय एवं शरीर से रहित, जितरिपु श्रीमान् जिनेश्वर भगवान् को प्रयत्न पूर्वक प्रणाम करता हूं ।

(२) श्री पार्श्वजिन भगवान् को प्रणाम कर एवं गुरुदेव का स्मरण कर श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह के सातवें भाग की रचना की जाती है ।

इकतीसवाँ बोल संग्रह

९६१–सिद्ध भगवान् के इकतीस गुण

ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का सर्वथा क्षय कर सिद्धिगति में विराजमान होने वाले सिद्ध कहलाते हैं।

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों की इकतीस प्रकृतियाँ हैं। सिद्ध भगवान् ने इन प्रकृतियों का सर्वथा क्षय कर दिया है। इसलिये उनमें इनके क्षय से उत्पन्न होने वाले इकतीस गुण होते हैं—

नव दरिसणम्मि चत्तारि आउए पंच आइमे अन्ते।
सेसे दो दो भेया खीणभिलावेण इगतीसं॥

(१) क्षीण आभिनिबोधिक ज्ञानावरण (२) क्षीण श्रुतज्ञानावरण (३) क्षीण अवधि ज्ञानावरण (४) क्षीण मनःपर्यय ज्ञानावरण (५) क्षीण केवलज्ञानावरण (६) क्षीण चक्षुदर्शनावरण (७) क्षीण अचक्षुदर्शनावरण (८) क्षीण अवधिदर्शनावरण (९) क्षीण केवलदर्शनावरण (१०) क्षीण निद्रा (११) क्षीण निद्रानिद्रा (१२) क्षीण प्रचला (१३) क्षीण प्रचला प्रचला (१४) क्षीण स्त्यानगृद्धि (१५) क्षीण सातावेदनीय (१६) क्षीण असातावेदनीय (१७) क्षीण दर्शनमोहनीय (१८) क्षीण चारित्रमोहनीय (१९) क्षीण नैरयिकायु (२०) क्षीण तिर्यञ्चायु (२१) क्षीण मनुष्यायु (२२) क्षीण देवायु (२३) क्षीण उच्च गोत्र (२४) क्षीण नीच गोत्र (२५) क्षीण शुभ नाम (२६) क्षीण अशुभ नाम (२७) क्षीण दानान्तराय (२८) क्षीण लाभान्तराय (२९) क्षीण भोगान्तराय (३०) क्षीण उपभोगान्तराय (३१) क्षीण वीर्यान्तराय।

सिद्ध भगवान् के गुण इस प्रकार भी बतलाये गये हैं—

पडिसेहण संठाणे य वण्णगंधरसफास वेए य।
पण पण दु पणट्ठ तिहा एगतीसमकायऽसंगऽरुहा॥

अर्थ–सिद्ध भगवान् ने पाँच संस्थान, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, तीन वेद एवं काय, संग और रुह (पुनरुत्पत्ति) का क्षय किया है। इनके क्षय से उन में इकतीस गुण होते हैं–

परिमण्डल, वृत्त, त्र्यस्र, चतुरस्र और आयात ये पाँच संस्थान हैं। सफेद, पीला, लाल, नीला और काला ये पाँच वर्ण हैं। गन्ध के दो भेद हैं–सुरभिगन्ध, दुरभिगन्ध,। तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा और मीठा ये पाँच रस हैं। गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, उष्ण स्निग्ध और रूक्ष ये आठ स्पर्श हैं। स्त्री,वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद ये तीन वेद हैं। सिद्ध भगवान् में इन अट्ठाईस बोलों का अभाव होता है। शेष तीन गुण इस प्रकार हैं–औदारिक आदि पाँच शरीरों में से कोई भी शरीर सिद्ध अवस्था में नहीं रहता, इसलिये सिद्ध भगवान् काय रहित अर्थात् अशरीरी हैं। बाह्य और आभ्यन्तर संग रहित होने से वे असङ्ग (निःसङ्ग) कह. लाते हैं। सिद्ध हो जाने के बाद वे फिर कभी संसार में जन्म नहीं लेते इसलिये वे 'अरूह' कहलाते हैं। संसार के कारणभूत आठ कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने से पुनः संसार में उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है। कहा भी है–

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः॥

अर्थ–जिस प्रकार बीज के जल जाने पर अंकुर पैदा नहीं होता उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के जल जाने पर संसार रूपी अंकुर पैदा नहीं होता।

सिद्ध भगवान् के उक्त गुण आचाराङ्ग सूत्र में इस प्रकार हैं–

'से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमण्डले, न किण्हे न णीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किले, न सुब्भिगंधे न दुब्भिगंधे, न तित्ते न कडुए

न कसाए न अंबिले न महुरे, न कक्खडे न मउए न गरुए न लहुए न सीए न उण्हे न निद्धे न लुक्खे, न काए, न संगे, न रुहे, न इत्थी न पुरिसे न णपुंसे।'

अर्थ–सिद्ध भगवान् न लम्बे हैं, न छोटे हैं, न वृत्त (गोल) हैं, न त्रिकोण हैं, न चौकोण हैं और न मण्डलाकार हैं। वे काले नहीं हैं, हरे नहीं हैं, लाल नहीं हैं, पीले नहीं हैं और सफेद भी नहीं हैं। वे न सुगन्ध रूप हैं और न दुर्गन्ध रूप हैं। वे न तीखे हैं, न कड़वे हैं, न कषैले हैं, न खट्टे हैं और न मीठे हैं। वे न कठोर हैं, न कोमल हैं, न भारी हैं, न हल्के। वे न ठण्डे हैं, न गरम हैं, न चिकने हैं, न रूखे हैं। उनके शरीर नहीं है। वे संसार में फिर जन्म नहीं लेते हैं। वे सर्व संग रहित हैं अर्थात् अमूर्त हैं। वे न स्त्री हैं, न पुरुष हैं और न नपुंसक हैं।

वे कैसे हैं ? इसके लिये शास्त्रकार कहते हैं—

परिण्णे, सण्णे। उवमा ण विज्जइ। अरूवी सत्ता। अपयस्स पयं णत्थि।

भावार्थ–वे विज्ञाता हैं, ज्ञाता हैं अर्थात् अनन्त ज्ञान दर्शन सम्पन्न हैं। वे अनन्त सुखों में विराजमान हैं। उनके ज्ञान और सुख के लिये कोई उपमा नहीं दी जा सकती क्योंकि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके साथ उनके ज्ञान और सुख की उपमा घटित हो सके। वे अरूपी हैं। उनका स्वरूप शब्दों द्वारा कहा नहीं जा सकता। (उत्तराध्ययन अ० ३१) (प्रवचन सारोद्धार द्वार २७६) (समवायांग ३१) (आचारांग श्रुत० १ अ० ५ उ० ६) (हरि० आ० प्रतिक्रमणाध्ययन)

९६२–साधु की ३१ उपमाएं

(१) उत्तम स्वच्छ कांस्य पात्र जैसे जल मुक्त रहता है–पानी उस पर नहीं ठहरता–उसी प्रकार साधु स्नेह से मुक्त होता है।

(२) जैसे शंख पर रंग नहीं चढ़ता उसी प्रकार साधु राग-भाव से रंजित नहीं होता।

(३) जैसे कछुआ चार पैर और गर्दन इन पाँच अवयवों को ढाल द्वारा सुरक्षित रखता है उसी प्रकार साधु भी संयम द्वारा पाँचों इन्द्रियों का गोपन करता है, उन्हें विषयों की ओर नहीं जाने देता।

(४) निर्मल सुवर्ण जैसे प्रशस्त रूपवान् होता है उसी प्रकार साधु रागादि का नाश कर प्रशस्त आत्मस्वरूप वाला होता है।

(५) जैसे कमलपत्र जल से निर्लिप्त रहता है उसी प्रकार साधु अनुकूल विषयों में आसक्त न होता हुआ उनसे निर्लिप्त रहता है।

(६) चन्द्र जैसे सौम्य (शीतल) होता है उसी प्रकार साधु स्वभाव से सौम्य होता है। सौम्य परिणामों के होने से वह किसी को क्लेश नहीं पहुंचाता।

(७) सूर्य जैसे तेज से दीप्त होता है उसी प्रकार साधु भी तप के तेज से दीप्त रहता है।

(८) जैसे सुमेरु पर्वत स्थिर है, प्रलयकाल के बवण्डर से भी वह चलित नहीं होता। उसी प्रकार साधु संयम में स्थिर रहता है। अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्ग उसे चलित नहीं कर सकते हैं।

(९) सागर जैसे गम्भीर होता है उसी प्रकार साधु भी गम्भीर होता है। हर्ष शोक के कारणों से उसका चित्त विकृत नहीं होता।

(१०) पृथ्वी जैसे सब सहती है उसी प्रकार साधु भी सम-भावपूर्वक अनुकूल प्रतिकूल सब परीषह उपसर्ग सहन करता है।

(११) राख से ढकी हुई अग्नि जैसे अन्दर से प्रज्वलित रहती है और बाहर मलिन दिखाई देती है। उसी प्रकार साधु तप से कृश होने के कारण बाहर से म्लान दिखाई देता है किन्तु उस का अन्तर शुभ लेश्या से प्रकाशमान रहता है।

(१२) घी से सिंची हुई अग्नि जैसे तेज से देदीप्यमान होती है उसी प्रकार साधु ज्ञान एवं तप के तेज से दीप्त रहता है।

(१३) गोशीर्ष चन्दन जैसे शीतल एवं सुगन्ध वाला होता है उसी प्रकार साधु कषायों के उपशान्त होने से शीतल एवं शील की सुगन्ध से वासित होता है।

(१४) हवा न चलने पर जैसे जलाशय में पानी की सतह सम रहती है, ऊँची नीची नहीं होती उसी प्रकार साधु भी समभाव वाला होता है। सम्मान एवं अपमान में भी उसके विचारों में चढ़ाव उतार नहीं होता।

(१५) सम्मार्जित स्वच्छ सीसा जैसे प्रगट भाव वाला होता है, उसमें मुख, नेत्र आदि का यथावत् प्रतिबिम्ब पड़ता है इसी प्रकार साधु प्रकट शुद्ध भाव वाला होता है। माया रहित होने से उसके मानसिक भाव कार्यों में यथार्थ रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं।

(१६) जैसे हाथी युद्ध में शौर्य दिखाता है। उसी प्रकार साधु अनुकूल प्रतिकूल परीषह रूप सेना के विरुद्ध आत्मशक्ति का प्रयोग करता है एवं विजय प्राप्त करता है।

(१७) धोरी वृषभ की तरह साधु जीवन पर्यन्त लिये हुए व्रत नियम एवं संयम का उत्साहपूर्वक निर्वाह करता है।

(१८) जैसे शेर महाशक्तिशाली होता है, जंगली जानवर उसे हरा नहीं सकते। इसी प्रकार आध्यात्मिक शक्तिशाली साधु भी परीषह उपसर्गों से पराभूत नहीं होता।

(१९) शरद् ऋतु का जल जैसे निर्मल होता है उसी प्रकार साधु का हृदय भी शुद्ध अर्थात् रागादि मल रहित होता है।

(२०) भारण्ड पक्षी सदा अत्यन्त सावधान रह कर निर्वाह करता है। तनिक भी प्रमाद उसके विनाश के लिये होता है। इसी प्रकार साधु भी हर समय संयमानुष्ठान में सावधान रहता है। कभी प्रमाद का सेवन नहीं करता।

(२१) जैसे गैंडे के एक ही सींग होता है, उसी प्रकार साधु

रागद्वेष रहित होने से एकाकी होता है।

(२२) जैसे स्थाणु (वृक्ष का ठूँठा) निश्चल खड़ा रहता है उसी प्रकार साधु कायोत्सर्ग के समय निश्चल खड़ा रहता है।

(२३) सूने घर में जैसे सफाई सजावट आदि संस्कार नहीं होते उसी प्रकार साधु शरीर का संस्कार नहीं करता। वह बाह्य स्वच्छता, शोभा, शृङ्गार आदि का त्याग कर देता है।

(२४) जैसे पवनरहित घर में जलता हुआ दीपक स्थिर रहता है परन्तु कम्पित नहीं होता। इसी प्रकार सूने घर में रहा हुआ साधु देवता मनुष्य आदि के उपसर्ग उपस्थित होने पर भी शुभ ध्यान में स्थिर रहता है परन्तु किञ्चित् भी चलित नहीं होता।

(२५) जैसे उस्तरे के एक ओर धार होती है उसी प्रकार साधु भी उत्सर्ग मार्ग रूप एक ही धार वाला होता है।

(२६) जैसे सर्प एक दृष्टि वाला यानी लक्ष्य पर ही दृष्टि जमाए रहता है, वैसे ही साधु अपने साध्य मोक्ष की ओर ध्यान रखता है और सभी क्रियाएं उसके समीप पहुंचने के लिये करता है।

(२७) आकाश जैसे निरालम्बन--आधाररहित है वैसे ही साधु कुल, ग्राम, नगर आदि के आलम्बन से रहित होता है।

(२८) पक्षी जैसे सब तरह से स्वतन्त्र होकर विहार करता है उसी प्रकार निष्परिग्रही साधु स्वजन सम्बन्धी एवं नियतवास आदि बन्धनों से मुक्त होकर देश नगरादि में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरता है।

(२९) जैसे सर्प स्वयं घर नहीं बनाता किन्तु दूसरों के बनाये हुए बिल में जाकर निवास करता है। इसी प्रकार साधु भी गृहस्थ द्वारा अपने निज के लिये बनाये हुए मकानों में उनकी अनुमति प्राप्त कर शास्त्रोक्त विधि से रहता है।

(३०) वायु की गति जैसे प्रतिबन्ध रहित है उसी प्रकार साधु भी बिना किसी प्रतिबन्ध के स्वतन्त्रता पूर्वक विचरता है।

(३१) परभव जाते हुए जीव की गति में जैसे कोई रुकावट नहीं होती, उसी प्रकार स्वपरसिद्धान्त का जानकार, वादादि सामर्थ्य वाला साधु भी निःशङ्क होकर विरोधी अन्यतीर्थियों के देश में धर्म-प्रचार करता हुआ विचरता है।

(प्रश्न व्याकरण धर्म द्वार ५ सूत्र २६) (औपपातिक सूत्र १७)

९६३-सूत्रकृताङ्ग (सूयगडांग) सूत्र चौथे अध्ययन प्रथम उद्देशे की ३१ गाथाएं

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के चौथे अध्ययन का नाम स्त्री परिज्ञा है। इसमें स्त्री द्वारा किये जाने वाले उपसर्गों का वर्णन है। ये उपसर्ग अनुकूल होने से अधिक दुःसह हैं। साधक इनके फेर में बहुत सुगमता से फँस जाता है और एक बार इनका शिकार होने के बाद वापिस साधना के मार्ग पर आना उसके लिये दुष्कर हो जाता है। इसीलिये सूत्रकार ने उपसर्गाध्ययन में सामान्यतः सभी उपसर्गों का वर्णन देकर भी स्त्री सम्बन्धी उपसर्गों का इस अध्ययन में स्वतन्त्र वर्णन दिया है। स्त्री परिज्ञा के प्रथम उद्देशे में सूत्रकार ने साधु को साधना के श्रेष्ठ मार्ग से गिराने वाली स्त्रियों की मायापूर्ण चेष्टाओं का विशद वर्णन किया है और बतलाया है कि किस प्रकार विद्वान् एवं क्रियाशील महात्मा उनकी माया जाल में फँस कर अपनी दुष्कर साधना पर पानी फेर देता है एवं एक बार परवश होने के बाद पुनः स्वतन्त्र होना उसके लिये कितना कठिन हो जाता है। परस्त्री सम्बन्ध के ऐहिक भीषण परिणाम भी शास्त्रकार ने यथास्थान बतलाये हैं। इससे यह समझना कि शास्त्रकार ने यह वर्णन देकर स्त्री जाति की अवहेलना की है, उसके (शास्त्रकार के) साथ अन्याय करना है। स्त्रियों के दुश्चरित्र से साधक को सावधान करना ही शास्त्रकार का उद्देश्य है, जिसका (दुश्चरित्र का)

कि किसी तरह समर्थन नहीं किया जा सकता। वस्तुतः सूत्रकार के आगे स्त्री और पुरुष का इस दृष्टि से कोई भेद नहीं है। इसी लिये टीकाकार ने यह कहा है कि स्त्री के परिचय से पुरुषों को जो दोष कहे गये हैं, वे ही पुरुषों के संसर्ग से स्त्रियों को भी होते हैं, अतएव साधना में प्रवृत्त साध्वियों के लिये भी पुरुषों के परिचय आदि का त्याग करना श्रेयस्कर है। चौथे अध्ययन के प्रथम उद्देशे की ३१ गाथाएं हैं जिनका भावार्थ क्रमशः दिया जाता है।

(१) साधु माता पिता भाई बहन आदि पूर्व संयोग एवं सास ससुरादि पश्चात् संयोग का त्याग कर दीक्षा ग्रहण करता है। दीक्षा लेते समय वह प्रतिज्ञा करता है कि मैं राग द्वेष कषाय से निवृत्त हो ज्ञानदर्शन चारित्र धारण करूँगा एवं वासना से विरत होकर एकान्त स्थानों में विचरूँगा।

(२) कामान्ध विवेकशून्य स्त्रियाँ कार्य विशेष का बहाना कर उक्त महात्मा पुरुष के समीप आती हैं। सूक्ष्म माया जाल का प्रयोग कर वे साधु को शील से स्खलित कर देती हैं। वे मायाविनी स्त्रियाँ साधु को ठगने के उन उपायों को जानती हैं जिनसे वह मुग्ध होकर उन में आसक्त हो जाता है।

(३) साधु को ठगने के लिये स्त्रियों द्वारा किये गये उपाय— स्त्रियाँ अत्यन्त स्नेह प्रकट करती हुई साधु के समीप आकर बैठती हैं। वासनावर्धक सुन्दर वस्त्रों को ढीला करके बारबार पहनती हैं। वासना जगाने के लिये वे जंघा आदि अंग दिखलाती हैं एवं भुजा उठा कर कांख दिखाती हुई साधु के सामने जाती हैं।

(४) एकान्त देख कर ये स्त्रियां शय्या आदि का उपभोग करने के लिये साधु से प्रार्थना करती हैं। परमार्थदर्शी साधु स्त्रियों की ऐसी हरकतों को बन्धन रूप समझे।

(५) ऐसी स्त्रियों से साधु अपनी दृष्टि न मिलावे। अकार्य

करने की उनकी प्रार्थना भी स्वीकार न करे। उनके साथ ग्रामादि में विहार न करे, न उनके साथ एकान्त में बैठे। इस तरह स्त्री-संपर्क का परिहार करने से साधु समस्त अपायों से बच जाता है।

(६) 'अमुक समय में आपके पास आऊँगी' इस प्रकार संकेत देकर एवं नाना प्रकार के ऊँच नीच वचनों द्वारा विश्वास पैदा कर स्त्रियाँ अपने साथ भोग भोगने के लिये साधु से प्रार्थना करती हैं। स्त्री सम्बन्धी नाना प्रकार के शब्दादि विषय दुर्गति के कारण हैं यह जान कर साधु को इनका त्याग करना चाहिये।

(७) मीठे वचन कहना, प्रेम भरी दृष्टि से देखना, अङ्ग प्रत्यंग दिखाना आदि चित्त को आकृष्ट करने वाले अनेक प्रपंच कर स्त्रियां करुणोत्पादक वचन कहती हुई विनय पूर्वक साधु के समीप आती हैं। साधु के समीप आकर वे विश्वासोत्पादक मधुर वचन कहती हैं। मैथुन सम्बन्धी वचनों से साधु के चित्त को वश कर अन्त में वे उसे कुकर्म करने के लिये आज्ञा देती हैं।

(८) जैसे बन्धन विधि में दक्ष पुरुष मांस का प्रलोभन देकर निर्भीक अकेले विचरने वाले सिंह को गलयन्त्र आदि से बांध लेते हैं एवं विविध प्रकार से उसे दुःख देते हैं इसी प्रकार मधुर भाषण आदि विविध उपायों से स्त्रियां भी मन वचन काया को वश किये हुए जितेन्द्रिय साधु को अपने जाल में फंसा लेती हैं।

(९) जैसे सुथार नेमिकाष्ठ को धीरे धीरे नमा कर कार्य योग्य बना लेता है इसी प्रकार स्त्रियां भी साधु को अपने वश में कर शनैः शनैः इष्ट अर्थ की ओर झुका लेती हैं। जैसे जाल में फंसा हुआ हिरण छटपटाता हुआ भी जाल से मुक्ति नहीं पाता, उसी प्रकार स्त्री के मायापाश में फंसा हुआ साधु प्रयत्न करने पर भी उससे अपने को नहीं छुड़ा सकता।

(१०) जिस प्रकार विष मिश्रित खीर खाकर विष के दारुण

विपाक से दुखी हुआ मनुष्य पीछे से पश्चात्ताप करता है। इसी प्रकार दुःख परिणाम वाले स्त्री के शब्दादि प्रलोभनों में फंसा हुआ साधु भी अन्त में पछताता है। इससे यह सबक सीखना चाहिये कि चारित्र का विनाश करने वाली स्त्रियों के साथ एक स्थान में रहना राग द्वेष रहित साधु के लिये ठीक नहीं है।

(११) विषलिप्त कण्टक के समान स्त्री को विपाकदारुण समझ कर साधु को उसका दूर से ही त्याग करना चाहिये। स्त्री के वश होकर जो अकेला ही गृहस्थ के घर जाकर उपदेश देता है वह साधु नहीं है। निषिद्ध आचरण के सेवन से अपाय (हानि) ही होता है।

(१२) जो साधु उत्तम अनुष्ठान का त्याग कर स्त्री संसर्ग रूप निन्दनीय कर्म में आसक्त है वह कुशीलों में शामिल है। अतएव उग्र तप से शोषित शरीर वाले महान् तपस्वी साधु को भी स्त्रियों के साथ विहार न करना चाहिये।

(१३) साधु को चाहिये कि वह अपनी कन्या, पुत्रवधू एवं धाया माँ के साथ भी एकान्त में न रहे। नीच दासियों तक के सम्पर्क का भी उसे त्याग करना चाहिये। छोटी अथवा बड़ी सभी स्त्रियों के साथ साधु को परिचय न रखना चाहिये।

(१४) साधु को एकान्त स्थान में स्त्री के साथ बैठा हुआ देख कर स्त्री के रिश्तेदार एवं मित्रों का चित्त खिन्न होता है। वे कहते हैं जिस तरह सामान्य प्राणी विषयों में आसक्त रहते हैं उसी प्रकार यह साधु भी है। यही कारण है कि संयमानुष्ठान का त्याग कर निर्लज्ज हो यह इस स्त्री के साथ बैठा रहता है। कभी क्रुद्ध हो वे साधु को यह भी कहते हैं कि हम तो केवल इसके रक्षण पोषण करने वाले हैं इसके पति तो तुम ही हो जो यह घर का काम काज छोड़ कर तुम्हारे पास एकान्त में बैठी रहती है।

(१५) रागद्वेष रहित तपस्वी साधु को भी स्त्री के साथ एकान्त

में बातचीत करते हुए देख कर कई लोग कुपित हो जाते हैं। वे स्त्री में दोष की आशंका करने लगते हैं। जैसे यह स्त्री विविध संस्कार वाले भोजन साधु के निमित्त बना कर उनसे साधु की परिचर्या (सेवा) करती है। इसलिये यह यहाँ नित्य आ जाता है।

(१६) धर्मध्यान प्रधान व्यापारों से भ्रष्ट हुए शिथिलाचारी साधु मोहवश स्त्रियों के साथ परिचय रखते हैं। ऐहिक एवं पारलौकिक अपाय (हानि) का परिहार करने तथा आत्मकल्याण के लिये, स्त्री सम्बन्ध का त्याग करना आवश्यक है। इसीलिये सुसाधु स्त्रियों के स्थान पर नहीं जाते हैं।

(१७) बहुत से लोग गृह त्याग कर प्रव्रजित होने के बाद भी मोहवश मिश्रभाव का सेवन करते हैं। वे द्रव्य से साधुवेश रखते हैं किन्तु भाव से गृहस्थाचार का सेवन करते हैं। यहीं ये विश्राम नहीं लेते किन्तु मिश्र आचार को मोक्ष का मार्ग बतलाते हैं। इन कुशीलों के शब्दों में ही शौर्य होता है किन्तु अनुष्ठानों में नहीं।

(१८) कुशील साधु सभा में धर्मोपदेश के समय अपनी आत्मा एवं अपने अनुष्ठानों को शुद्ध बतलाता है और पीछे एकान्त में छिप कर पापाचरण का सेवन करता है। किन्तु यह मायाचार उसके छिपाये नहीं छिपता। इंगित (इशारा), आकार आदि के विशेषज्ञ जान लेते हैं कि यह व्यक्ति मायावी एवं धूर्त हैं।

(१९) अज्ञानी साधु अपने प्रच्छन्न (छिप कर किये गये) पापाचरण की बात को आचार्य से नहीं कहता। दूसरे से प्रेरणा किये जाने पर वह अपनी प्रशंसा करता है और अकार्य को छिपा देता है। 'मैथुन की इच्छा न करो' इस प्रकार बार बार आचार्य महाराज के कहने पर वह ग्लानि पाता है।

(२०) स्त्री का पोषण करने के लिये पुरुषों को जो विविध व्यापार करने पड़ते हैं, उनका जिन्हें कटुक अनुभव है, जो स्त्रीवेद

के मायालु स्वभाव से सुपरिचित हैं ऐसे भुक्तभोगी एवं बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति भी मोह वश पुनः स्त्रियों के वशवर्ती हो जाते हैं।

(२१) स्त्री सम्बन्ध का ऐहिक बुरा परिणाम– परस्त्री से सम्बन्ध रखने वाले विषयान्ध पुरुषों के हाथ पैर का छेदन किया जाता है। उनकी चमड़ी एवं मांस काटे जाते हैं। वे अग्नि में तपाये जाते हैं तथा चमड़ी छील कर उनके नमक भरा जाता है।

(२२) परस्त्री सम्बन्ध के दण्ड स्वरूप ये लोग कान नाक और कण्ठ का छेदन सहन करते हैं। इस तरह यहीं पर स्वकृत पापों से सन्तप्त होकर भी ये पापी यह नहीं कहते कि अब हम ऐसा कुकार्य नहीं करेंगे।

(२३) स्त्रियों के लिये जो ऊपर कहा गया है वह गुरु महाराज से सुना है, लोगों का भी यही कहना है। स्त्री स्वभाव का निरूपण करने वाले वैशिक कामशास्त्र में भी बताया है कि 'मैं अकार्य न करूँगी' यह मंजूर करके भी स्त्रियाँ विपरीत आचरण करती हैं।

(२४) स्त्रियाँ मन में कुछ सोचती हैं, वचन से कुछ और कहती हैं एवं कार्य और ही करती हैं। स्त्रियों को बहुत माया वाली जान कर साधु उन पर विश्वास न करे।

(२५) नवयौवना स्त्री विचित्र वस्त्र अलंकार पहन कर साधु के पास आती है और छलपूर्वक कहती है–हे भगवन्! मैं घर के झंझटों से तंग आगई हूं। गृहस्थी छोड़ कर मैं संयम का पालन करूँगी। अतएव कृपा कर आप मुझे धर्म सुनाइये।

(२६) कोई स्त्री श्राविका का बहाना कर साधु के पास आकर कहती है-महाराज! मैं श्राविका हूं और इस नाते आपकी साधर्मिणी हूँ। इस प्रकार प्रपंच कर वह साधु से परिचय बढ़ाती है। फल स्वरूप अग्नि के समीप रहे हुए लाख के घड़े की तरह विद्वान् साधु भी स्त्री के संवास में रहकर शिथिलविहारी हो जाता है।

(२७) जैसे लाख का घड़ा अग्नि का स्पर्श पाकर शीघ्र ही तप कर नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार स्त्रियों के संसार में रहने से अनगार साधु भी नष्ट हो जाते है अर्थात् संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं।

(२८) स्त्रियों में आसक्त हुए कई साधु व्रत नियमों की अवहेलना कर पाप कर्म का सेवन कर लेते हैं। आचार्यादि के पूछने पर वे कहते हैं—मैं यह अकार्य कैसे कर सकता हूं ? यह स्त्री तो मेरी पुत्री के समान है। बचपन में यह मेरी गोद में सोया करती थी। पहले के उसी अभ्यास से उसका मेरे साथ ऐसा व्यवहार है।

(२९) ब्रह्मचर्य भंग रूप भारी भूल करने वाले उस अज्ञानी साधु की यह दूसरी अज्ञानता है कि पापकार्य करके भी पूछने पर झूठ बोल कर वह उसे छिपाता है। इस तरह वह दुगुने पाप का भागी बनता है। लोक में अपनी पूजा के लिये पाप कार्य को छिपाने वाला वह साधु वस्तुतः असंयम का इच्छुक है।

(३०) आत्मज्ञानी किसी साधु को सुन्दराकृति देख कर दुःशील स्त्रियाँ उसे आमन्त्रण देती हुई कहती हैं—हे रक्षक! कृपया आप हमारे यहाँ पधार कर आहार पानी वस्त्र पात्र लीजियेगा।

(३१) स्त्रियों के इस आमन्त्रण को साधु नीवार रूप अर्थात् प्रलोभन समझे। जैसे सूअर को वश करने के लिये लोग उसे नीवार (धान्य विशेष) से ललचाते हैं उसी प्रकार स्त्रियों का यह आमन्त्रण साधु को अपने वश करने के लिये प्रलोभन रूप है। आत्मार्थी साधु को उनके घर जाने का विचार भी न करना चाहिए। शब्दादि विषय रूप जाल में फँस कर स्त्रियों के वश हुआ अज्ञानी व्यक्ति उनसे स्वतन्त्र होने में अपने को असमर्थ पाकर बार बार व्याकुल होता है। (सूत्रकृताग सूत्र श्रुत० १ अध्य० ४ उ० १)

बत्तीसवाँ बोल संग्रह

९६४-ब्रह्मचर्य (शील) की बत्तीस उपमा

सर्वथा मैथुन का त्याग कर आत्मस्वरूप में रमण करना ब्रह्मचर्य है। शास्त्रकारों ने ब्रह्मचर्य का बड़ा महत्त्व बतलाया है। केवल एक ब्रह्मचर्य की साधना करने से अन्य सभी गुणों की साधना हो जाती है। कहा भी है-

जम्मि य आराहियम्मि, आराहियं वयमिणं सव्वं, सीलं तवो य विणओ य संजमो य खंती गुत्ती मुत्ती तहेव इहलोइय पारलोइय जसे य कित्ती य पच्चओ य।

भावार्थ-चौथे ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करने से अन्य व्रतों की भी अखण्ड आराधना हो जाती है, जैसे-शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, गुप्ति, मुक्ति (निर्लोभता)। ब्रह्मचारी को इहलोक और परलोक में यश और कीर्ति की प्राप्ति होती है। वह सभी लोगों का विश्वास प्राप्त कर लेता है।

यही कारण है कि 'व्रतानां ब्रह्मचर्यं हि निर्दिष्टं गुरुकं व्रतं' कह कर ब्रह्मचर्य को सभी व्रतों में प्रधान माना है। सनातन धर्म में ब्रह्मचर्य का महत्त्व बतलाते हुए 'एकतश्चतुरो वेदाः ब्रह्मचर्यं च एकतः' कहा है। अर्थात् एक ओर चार वेद हैं और एक ओर ब्रह्मचर्य है। जैनशास्त्रों में 'बंभं भगवन्तं' कह कर ब्रह्मचर्य को साक्षात् भगवान् रूप बतलाया है। ब्रह्मचर्य की प्रधानता से प्रभावित हो देवता भी ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं। कहा भी है-

देवदाणव गंधव्वा, जक्ख रक्खस किण्णरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ॥

भावार्थ-जो दुष्कर ब्रह्मचर्य की आराधना करता है उसे

देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर नमस्कार करते हैं।

ब्रह्मचर्य की सर्वश्रेष्ठता बतलाने के लिये शास्त्रकारों ने विश्व के सर्वश्रेष्ठ बत्तीस पदार्थों से इसकी उपमा दी है। वह इस प्रकार है—

(१) जिस प्रकार ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि में चन्द्रमा प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(२) जिस प्रकार मणि, मोती, प्रवाल (मूँगा) और रत्नों के उत्पत्ति स्थानों में समुद्र प्रधान और श्रेष्ठ माना जाता है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान एवं उत्तम है।

(३) जैसे रत्नों में वैडूर्य जाति का रत्न प्रधान एवं उत्तम है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत श्रेष्ठ है।

(४) जिस प्रकार आभूषणों में मुकुट प्रधान गिना जाता है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(५) जिस प्रकार वस्त्रों में क्षौम युगल (रेशमी वस्त्र) प्रधान है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत सब व्रतों में प्रधान है।

(६) फूलों में जिस प्रकार कमल का फूल श्रेष्ठ और प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ एवं प्रधान है।

(७) जिस प्रकार चन्दनों में गोशीर्ष चन्दन प्रधान और उत्तम है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सब व्रतों में उत्तम है।

(८) जैसे हिमवान् पर्वत चमत्कारी औषधियों का उत्पत्ति स्थान है वैसे ही ब्रह्मचर्य आमशौषधि आदि लब्धियों का उत्पत्ति स्थान है।

(९) जैसे नदियों में शीतोदा नदी अति विस्तार वाली अतएव प्रधान है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सब व्रतों में प्रधान है।

(१०) जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र सब समुद्रों से महान् अतएव प्रधान है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सब व्रतों में महान् एवं प्रधान है।

(११) जिस प्रकार मानुषोत्तर, कुण्डलवर आदि माण्डलिक पर्वतों में तेरहवें द्वीप में रहा हुआ रुचकवर पर्वत श्रेष्ठ एव उत्तम है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सब व्रतों में श्रेष्ठ एवं उत्तम है।

(१२) जैसे हाथियों में शक्रेन्द्र का ऐरावण हाथी प्रधान है वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत सब व्रतों में प्रधान है।

(१३) जिस प्रकार हिरण आदि सभी चौपदों में सिंह बलवान् एवं प्रधान है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सब व्रतों में प्रधान है।

(१४) जिस प्रकार सुपर्णकुमार जाति के भवनपति देवों में वेणुदेव प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(१५) जिस प्रकार नागकुमार जाति के भवनपति देवों में धरणीन्द्र प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।

(१६) जैसे ब्रह्मलोक नामक पाँचवाँ देवलोक अति विस्तार वाला होने से सब देवलोकों में प्रधान है वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत सब व्रतों में प्रधान है।

(१७) प्रत्येक भवन और विमान में पाँच सभाएँ होती हैं— सुधर्मा सभा, उत्पाद सभा, अभिषेक सभा, अलङ्कार सभा और व्यवसाय सभा। इन सभी सभाओं में सुधर्मा सभा प्रधान होती है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(१८) जिस प्रकार सर्वार्थसिद्ध के देवों की स्थिति सभी स्थितियों में प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(१९) जिस प्रकार अभयदान सब दानों में प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(२०) जैसे कम्बलों में किरमची रंग की कम्बल प्रधान मानी जाती है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान होता है।

(२१) जिस प्रकार छः संहनन में वज्रऋषभनाराच संहनन प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(२२) जिस प्रकार छः संस्थान में समचतुरस्र संस्थान उत्तम है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत उत्तम है।

(२३) जिस प्रकार सब ध्यानों में परम शुक्लध्यान अर्थात्

समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती नामक शुक्ल ध्यान का चौथा भेद प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(२४) जिस प्रकार मति श्रुत आदि पाँचों ज्ञानों में केवलज्ञान प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(२५) जिस प्रकार छः लेश्याओं में परम शुक्ललेश्या (सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती नामक शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद में होने वाली) प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(२६) जिस प्रकार मुनियों में तीर्थङ्कर भगवान् प्रधान हैं उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(२७) जैसे सब क्षेत्रों में महाविदेह क्षेत्र अति विस्तृत एवं प्रधान है वैसे ही सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(२८) जैसे सब पर्वतों में सुमेरु पर्वत प्रधान है वैसे ही सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(२९) जिस प्रकार भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डक नामक मेरु पर्वत के चारों वनों में नन्दनवन अति रमणीय एवं प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(३०) जिस प्रकार वृक्षों में जम्बू वृक्ष, जिसे सुदर्शन भी कहते हैं और जिसके नाम से यह द्वीप जम्बूद्वीप कहा जाता है, प्रसिद्ध अतएव प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(३१) जिस प्रकार राजा अश्वपति, गजपति, रथपति और नरपति रूप से प्रसिद्ध है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत भी प्रधान है।

(३२) जैसे महारथ में बैठा हुआ रथी शत्रु सेना को पराजित करता है वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत भी कर्मशत्रु की सेना को पराजित करता है। इस प्रकार अनेक गुण ब्रह्मचर्य व्रत के अधीन रहते हैं।

(प्रश्न व्याकरण धर्म द्वार ४ सूत्र २७)

९६५–बत्तीस योग संग्रह

यहाँ योग से प्रशस्त योग अर्थात् मन वचन काया का शुभ व्यापार विवक्षित है। शिष्य की आलोचना, गुरु का उसे किसी को न कहना इत्यादि क्रियाओं से प्रशस्तयोगी का संग्रह होता है। प्रशस्त योग संग्रह में कारण होने से आलोचनादि क्रियाओं को भी प्रशस्त योग संग्रह कहा जाता है। इसके बत्तीस भेद हैं:–

(१) मोक्ष के साधनभूत शुभ योगों का संग्रह करने के लिये शिष्य को गुरु के समीप सम्यक् आलोचना करनी चाहिये।

(२) गुरु को भी मुक्ति योग्य शुभ योगों का संग्रह करने के लिये शिष्य की आलोचना किसी को न कहनी चाहिये।

(३) शुभ योग संग्रह निमित्त आपत्ति आने पर भी साधु को अपने धर्म में दृढ़ रहना चाहिये।

(४) प्रशस्त योग के लिये ऐहिक और पारलौकिक फल की इच्छा रहित होकर तप करना चाहिये। तप में दूसरे की सहायता की अपेक्षा भी न करनी चाहिये।

(५) शुभयोग संग्रह के लिये सूत्रार्थग्रहणरूप ग्रहणशिक्षा एवं प्रतिलेखनादि रूप आसेवना शिक्षा का अभ्यास करना चाहिये।

(६) योगों की प्रशस्तता के लिये साधु को शरीर के संस्कार शृंगार की ओर ध्यान न देना चाहिये।

(७) प्रशस्त योग संग्रह के लिये साधु को यश और पूजा की कामना न कर इस प्रकार तप करना चाहिये कि किसी को पता न लगे। उसे अपना तप किसी के आगे प्रकाशित न करना चाहिये।

(८) प्रशस्त योगों के लिये साधु को निर्लोभ होना चाहिये।

(९) शुभ योगों का संग्रह करने के लिये साधु को सहनशील होकर परीषह उपसर्गों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये।

(१०) साधु को योगों की प्रशस्तता के लिये ऋजुता—सरलता को अपनाना चाहिये।

(११) शुभयोग संग्रह के लिये साधु को शुचि अर्थात् सत्य शील एवं संयमी होना चाहिये।

(१२) शुभ योग संग्रह के लिये साधु को सम्यग्दृष्टि होना चाहिये।

(१३) शुभ योग संग्रह के लिये साधु को समाधिवन्त अर्थात् प्रसन्न चित्त रहना चाहिये।

(१४) योगों की प्रशस्तता के लिये साधु को चारित्रशील होना चाहिये, साधु का आचार पालने में माया न करनी चाहिये।

(१५) इसी तरह साधु को विनम्र होना चाहिये, उसे मान का कतई त्याग करना चाहिये।

(१६) शुभ योगों का संग्रह करने के लिये साधु की बुद्धि धैर्य-प्रधान होनी चाहिये। उसे कभी दीन भाव न लाना चाहिये।

(१७) इसी शुभ योग संग्रह के लिये साधु में संवेगभाव (संसार का भय एवं मोक्ष की अभिलाषा) होना चाहिये।

(१८) योगों की श्रेष्ठता के लिये साधु को छल कपट का त्याग करना चाहिये। उसे कभी माया न करनी चाहिये।

(१९) शुभयोगों के लिये साधु को सदनुष्ठान करना चाहिये।

(२०) साधु को संवरशील होना चाहिये, उसे नवीन कर्मों को आत्मा में आने से रोकना चाहिये।

(२१) योगों की उत्तमता के लिये साधु को अपने दोषों की शुद्धि कर उनका निरोध करना चाहिये।

(२२) प्रशस्त योग संग्रह के लिये साधु को पाँचों इन्द्रियों के अनुकूल विषयों से विमुख रहना चाहिये।

(२३) शुभ योग संग्रह के लिये साधु को मूल गुण विषयक प्रत्याख्यान करना चाहिये।

(२४) इसी शुभ योग संग्रह के लिये उसे उत्तरगुण विषयक प्रत्याख्यान भी करना चाहिये।

(२५) योगों की प्रशस्तता के लिये साधु को द्रव्य एवं भाव दोनों प्रकार का व्युत्सर्ग करना चाहिये।

(२६) शुभयोगों के लिये साधु को प्रमाद छोड़ना चाहिये।

(२७) योग की प्रशस्तता के लिये साधु को प्रति क्षण शास्त्रोक्त समाचारी के अनुष्ठान में लगे रहना चाहिये।

(२८) शुभ योग संग्रह के लिये साधु को शुभ ध्यान रूप संवर क्रिया का आश्रय लेना चाहिये।

(२९) प्रशस्त योग चाहने वाले साधु को मारणान्तिक वेदना का उदय होने पर भी घबराना न चाहिये।

(३०) शुभयोग संग्रहार्थी साधु को ज्ञपरिज्ञा से विषय संग हेय जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा उसका त्याग करना चाहिये।

(३१) योगों की प्रशस्तता के लिये साधु को दोष लगने पर प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना चाहिये।

(३२) प्रशस्त योग संग्रह के लिये साधु को अन्त समय संलेखना कर पण्डित मरण की आराधना करनी चाहिये।

(उत्तराध्ययन अ० ३१ गाथा २० टीका) (प्रश्नव्याकरण ५ धर्मद्वार सूत्र २९ टीका) (समवायांग ३२) (हरिभद्रीयावश्यक प्रतिक्रमणाध्ययन गाथा १२७४ से १२७८)

९६६ बत्तीस सूत्र

ग्यारह अङ्ग, बारह उपाङ्ग, चार मूल सूत्र, चार छेद सूत्र और आवश्यक ये बत्तीस सूत्र हैं। ग्यारह अङ्ग और बारह उपाङ्ग का विशद वर्णन इसी ग्रन्थ के चौथे भाग में क्रमशः बोल नं० ७७६ और ७७७ में दिया गया है। चार मूल सूत्र और चार छेद सूत्र का विषय वर्णन इसी ग्रंथ के प्रथम भाग में क्रमशः बोल नं०

२०४ और २०५ में दिया गया है। आवश्यक सूत्र में सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छः अध्ययन हैं। इनका विशेष स्वरूप इसी ग्रन्थ के द्वितीय भाग में बोल नं० ४७९ में दिया गया है। यहाँ बत्तीस सूत्रों के नाम और उनकी श्लोक संख्या दी गई है।

सूत्र का नाम	श्लोक संख्या	सूत्र का नाम	श्लोक संख्या
(१) आचाराङ्ग	२५००	(२) सूत्रकृताङ्ग	२१००
(३) स्थानाङ्ग	३७७०	(४) समवायाङ्ग	१६६७
(५) भगवती	१५७५२	(६) ज्ञाता धर्मकथा	५५००
(७) उपासकदशा	८१२	(८) अन्तकृद्दशा	९००
(९) अनुत्तरोपपातिक	२९२	(१०) प्रश्नव्याकरण	१२५०
(११) विपाक	१२१६	(१२) औपपातिक	१२००
(१३) राजप्रश्नीय	२०७८	(१४) जीवाभिगम	४७००
(१५) प्रज्ञापना	७७८७	(१६) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	४१४६
(१७) सूर्य प्रज्ञप्ति	२२००	(१८) चन्द्र प्रज्ञप्ति	२२००
(१९) निरयावलिका, (२०) कल्पावतंसिका, (२१) पुष्पिका, (२२) पुष्पचूलिका, (२३) वह्निदशा	११०९		
(२४ उत्तराध्ययन	२०००	(२५) दशवैकालिक	७००
(२६) नन्दीसूत्र	७००	(२७) अनुयोग द्वार	१६००
(२८) दशाश्रुतस्कन्धदशा	१८३५	(२९) बृहत्कल्प	४७३
(३०) निशीथसूत्र	८१५	(३१) व्यवहार	६००
(३२) आवश्यक	१२५		

नोट—यह श्लोक संख्या अभिधान राजेंद्रकोष प्रथम भाग प्रस्तावना पृष्ठ ३१ से ३५ में से दी गई है। हस्त लिखित प्रतियों में श्लोक संख्या अलग अलग पाई जाती है।

६६७–सूत्र के बत्तीस दोष

अप्पग्गंथ–महत्थं बत्तीसा दोसविरहियं जं च।
लक्खणजुत्तं सुत्तं अट्ठहि य गुणेहि उववेयं॥

भावार्थ–जिसमें अक्षर थोड़े हों, अर्थ अधिक हो, बत्तीस दोष न हो और आठ गुण हों ऐसा सूत्र लक्षण युक्त कहा जाता है।

यहाँ सूत्र के बत्तीस दोष क्रमशः दिये जाते हैं —

(१) अलीक–अलीक का अर्थ असत्य है। यह दो प्रकार का है–अभूतोद्भावन और भूतनिह्नव। 'जगत् ईश्वर का बनाया हुआ है' इस प्रकार अभूत (अविद्यमान) वस्तु का प्रगट करना अभूतोद्भावन है। 'आत्मा नहीं है' इस प्रकार विद्यमान वस्तु का गोपन करना भूतनिह्नव है।

(२) उपघात जनक– वेद विहित हिंसा धर्म के लिये है, मांस भक्षण में दोष नहीं है– इस प्रकार जीव हिंसा में प्रवृत्त कराने वाला सूत्र उपघातक है।

(३) निरर्थक–डित्थादि की तरह अर्थ शून्य सूत्र निरर्थक है।

(४) अपार्थक–शब्दों के सार्थक होते हुए भी जिनका समुदायरूप से कोई संबद्ध अर्थ न हो इस प्रकार असंबद्ध अर्थ वाला सूत्र अपार्थक है। जैसे-शंख कदली में है और कदली भेरी में है।

(५) छल–सूत्रकार जिस अर्थ को नहीं कहना चाहता उस अनिष्ट अर्थ को निकाल कर जहाँ उसके (सूत्रकार के) इष्ट अर्थ की घात की जा सकती है ऐसे सूत्र का कहना छल दोष है। जैसे–यह देवदत्त नव कम्बल वाला है। यहाँ 'नव कम्बल' से वक्ता का आशय 'नई कम्बल' है किन्तु दूसरा व्यक्ति 'नौ कम्बल वाला' अर्थ कर वक्ता के इष्ट अर्थ की घात कर सकता है।

(६) द्रुहिल–पाप व्यापार का पोषक होने से जो सूत्र जीवों के हित का नाश करने वाला है वह द्रुहिल कहा जाता है। जैसे

खाओ पिओ मौज उड़ाओ, गया समय वापिस नहीं लौटता, यह शरीर पाँच भूतों का पिण्ड रूप है इत्यादि।

(७ निःसार-युक्तिशून्य सारहीन वचन निःसार कहलाता है।

(८) अधिक-जिसमें आवश्यकता से अधिक अक्षर, मात्रा, पद वगैरह हों वह सूत्र अधिक दोष से दूषित है।

अथवा जिस में हेतु या उदाहरण अधिक हों वह सूत्र अधिक दोष वाला कहा जाता है। जैसे-शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है, जैसे घट, पट। यहाँ एक उदाहरण अधिक है।

(९) ऊन-जिसमें अक्षर,मात्रा, पद आदि कम हों वह सूत्र ऊन दोष वाला है। अथवा जिसमें हेतु या उदाहरण कम हो वह सूत्र ऊन दोष वाला कहा जाता है। जैसे-कृतक होने से शब्द अनित्य है। यहाँ उदाहरण की कमी है।

(१०) पुनरुक्त-पुनरुक्त दोष शब्द और अर्थ के भेद से दो प्रकार का है। घट, घट-यह शब्द पुनरुक्त है। घट, कट, कुम्भ यह अर्थ पुनरुक्त है।

(११) व्याहत-पहले कही हुई बात में पिछली बात से विरोध आना व्याहत दोष है। जैसे कर्म है, फल है किन्तु कर्त्ता नहीं है।

(१२) अयुक्त-युक्ति के आगे न टिक सकने वाला वचन अयुक्त कहलाता है। जैसे हाथियों के गंडस्थल से चूने वाली मद-बिन्दुओं से हाथी घोड़े और रथ को बहाने वाली नदी बहने लगी।

(१३) क्रमभिन्न-क्रम का टूट जाना क्रमभिन्न है। जैसे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय के स्पर्श, रूप, शब्द, गन्ध और रस विषय हैं।

(१४) वचन भिन्न-वचनों (एकवचन, द्विवचन और बहु वचन) का व्यत्यय होना अर्थात् एक वचन की जगह दूसरे वचन का प्रयोग होना वचन भिन्न दोष है।

(१५) विभक्तिभिन्न—विभक्ति का अन्यथा प्रयोग होना विभक्तिभिन्न दोष है। जैसे—प्रथमादि विभक्तियों के स्थान पर द्वितीया आदि का प्रयोग होना।

(१६) लिङ्गभिन्न—स्त्रीलिंग, पुलिंग, नपुँसकलिंग-ये तीन लिंग हैं। इनका अन्यथा प्रयोग होना लिङ्गभिन्न दोष है। जैसे—स्त्रीलिंग के स्थान पर पुलिंग का प्रयोग होना।

(१७) अनभिहित—अपने सिद्धान्त में जो बातें नहीं हैं उनका अपनी इच्छानुसार कथन करना अनभिहित दोष है। जैसे—सांख्य मतानुयायी का प्रकृति पुरुष से भिन्न पदार्थों का निरूपण करना।

(१८) अपद—जहाँ छन्द विशेष की आवश्यकता हो वहाँ उससे भिन्न छन्द में रचना करना अथवा एक छन्द में दूसरे छन्द का पद रखना अपद दोष है।

(१९ स्वभाव हीन—जिस वस्तु का जो स्वभाव है वह न कह कर उसका दूसरा स्वभाव बतलाना स्वभाव हीन दोष है। जैसे वायु का स्थिर स्वभाव कहना।

(२०) व्यवहित-एक वस्तु का वर्णन करते हुए बीच ही में दूसरी वस्तु का विस्तार पूर्वक वर्णन करने लगना एवं बाद में पुनः प्रकृत वस्तु का वर्णन करना व्यवहित दोष है।

(२१) कालभिन्न—काल का अन्यथा प्रयोग करना कालभिन्न दोष है। जैसे भूत काल के बदले वर्तमान काल का प्रयोग करना।

(२२) यतिदोष-पद्य में आवश्यक विराम का न होना अथवा उसका यथास्थान न होना यति दोष है।

(२३) छवि दोष-यहाँ छवि से अलंकार विशेष (तेजस्विता) का तात्पर्य है, उसका न होना छवि दोष है।

(२४) समय विरुद्ध—स्वाभिमत सिद्धान्त से विपरीत वचन कहना समयविरुद्ध दोष है।

(२५) वचनमात्र-बिना किसी हेतु के इच्छानुसार कोई बात कहना वचन मात्र है। जैसे-किसी स्थान पर कील गाड़ कर कहना कि यह लोक का मध्य भाग है।

(२६) अर्थापत्ति दोष-अर्थापत्ति से सूत्र का अनिष्ट अर्थ निकलना अर्थापत्ति दोष है। जैसे ब्राह्मण की घात न करनी चाहिये। यहाँ अर्थापत्ति से ब्राह्मण के सिवाय दूसरे की घात निर्दोष सिद्ध होती है।

(२७) समास दोष-जहाँ समास करना आवश्यक है वहाँ समास न करना अथवा विपरीत समास करना समास दोष है।

(२८) उपमा दोष-'मेरु सरसों के समान है' या 'सरसों मेरु के समान है' इस प्रकार हीन अथवा अधिक से सदृशता बताना उपमा दोष है। अथवा 'मेरु समुद्र जैसा है' इस प्रकार सदृशता-रहित पदार्थ से उपमा देना उपमा दोष है।

(२९) रूपक दोष-रूपक में आरोपित वस्तु के अवयवों का वर्णन न करना अथवा दूसरी (अनारोपित) वस्तु के अवयवों का वर्णन करना रूपक दोष है। जैसे-पर्वत के रूपक में उसके शिखर आदि अवयवों का वर्णन न करना अथवा पर्वत के रूपक में समुद्र के अवयवों का वर्णन करना।

(३०) निर्देश दोष-निर्दिष्ट पदों का एक वाक्य न बनाना निर्देश दोष है। जैसे-'देवदत्त थाली में पकाता है' न कह कर 'देवदत्त थाली में' इतना ही कहना।

(३१) पदार्थ दोष-वस्तु की पर्याय को भिन्न पदार्थ रूप से कहना पदार्थ दोष है। जैसे वैशेषिकों का सत्ता को, वस्तु की पर्याय होते हुए भी, भिन्न पदार्थ मानना।

बृहत्कल्प भाष्य में पदार्थ दोष के स्थान में पद दोष दिया गया है। शब्द के आगे धातु के प्रत्यय लगाना और धातु के आगे शब्द के प्रत्यय लगाना पद दोष है।

(३२) संधि दोप–संधि हो सकने पर भी संधि न करना संधि दोप है। अथवा दुष्ट संधि करना संधि दोप है। जैस विसर्ग का लोप करने के बाद पुनः संधि करना।

ये सूत्र के बत्तीस दोप हुए। गाथा में सूत्र के आठ गुण बतलाये हैं। प्रकरण संगत होने से उन्हें भी यहाँ दिया जाता है:–

(१) निर्दोप–उपर्युक्त तथा अन्य सभी दोपों से रहित हो।

(२) सारवत्–जो बहुत पर्याय वाला हो। गो जैसे अनेक अर्थ वाले शब्दों का जिसमें प्रयोग हो।

(३) हेतु युक्त–जो अन्वय व्यतिरेक रूप हेतु सहित हो अथवा जो हेतु यानी कारण सहित हो।

(४) अलंकृत–जो उपमा उत्प्रेक्षादि अलंकारों से विभूपित हो।

(५) उपनीत–जो उपसंहार सहित हो।

(६) सोपचार–जिसमें ग्राम्योक्तियाँ न हो।

(७) मित–जो उचित वर्णादि परिमाण वाला हो।

(८) मधुर–जो सुनने में मधुर हो एवं जिसका अर्थ भी मधुर हो।

कई सर्वज्ञभापित सूत्रों के छः गुण बतलाते हैं। वे ये हैं:–

(१) अल्पाक्षर–जिसमें बहुत अर्थ वाले परिमित अक्षर हों।

(२) असंदिग्ध–'सैन्धव लाओ' की तरह जो संशय पैदा करने वाला न हो। सैंधव शब्द के नमक, वस्त्र, घोड़ा आदि अनेक अर्थ हैं इसलिये यहाँ श्रोता को सन्देह हो जाता है।

(३) सारवत्–जो नवनीत (मक्खन) की तरह साररूप हो।

(४) विश्वतोमुख–जो सब तरह से प्रकृत अर्थ का देने वाला हो अथवा अनन्त अर्थ वाला होने से जो विश्वतोमुख हो।

(५) अस्तोभ–च, वा, हि इत्यादि निरर्थक निपात जिसमें न हों।

(६) अनवद्य–जिसमें कामादि पाप व्यापार का उपदेश न हो।

(अनुयोग द्वार सूत्र १५१ टीका) (विशेपावश्यक भाष्य गाथा ६६६ टीका)
(सनिर्युक्तिक भाष्य वृत्तिक बृहत्कल्प सूत्र पीठिका गाथा २७८–२८७)

९६८-बत्तीस अस्वाध्याय

सम्यक् रीति से मर्यादा पूर्वक सिद्धान्त में कहे अनुसार शास्त्रों का पढ़ना स्वाध्याय है। जिस काल अथवा जिन परिस्थितियों में शास्त्र पढ़ना मना है वे अस्वाध्याय हैं।

आत्मविकास के लिये की जाने वाली क्रियाओं में स्वाध्याय का स्थान बड़े महत्त्व का है। स्वाध्याय का असर सीधे आत्मा पर पड़ता है। यही कारण है कि इसे आभ्यन्तर तप के प्रकारों में गिना गया है। इसका आचरण करने से ज्ञान की आराधना के साथ परम्परा से दर्शन और चारित्र की आराधना होती है। उत्तराध्ययन २९ वें अ० में स्वाध्याय का फल बतलाते हुए कहा है-'नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ' अर्थात् स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है। आगे वाचनादि स्वाध्याय प्रकारों से महानिर्जरा का होना, पुनः पुनः असातावेदनीय कर्म का बंध न होना यावत् शीघ्र ही संसार सागर के पार पहुंचना आदि महाफल बतलाये हैं। पर यह स्मरण रहे कि समुचित वेला में स्वाध्याय करने से ही ये महान् फल प्राप्त होते हैं। जो समय स्वाध्याय का नहीं है उस समय स्वाध्याय करने से लाभ के बदले हानि ही होती है। चौदह ज्ञान के अतिचारों में 'अकाले कओ सज्झाओ' अर्थात् अकाल में स्वाध्याय की हो, अतिचार माना है। व्यवहार सूत्र में अस्वाध्याय में स्वाध्याय का निषेध करते हुए कहा है—

नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा असज्झाए सज्झाइयं करित्तए

अर्थात् साधु साध्वियों को अस्वाध्याय में स्वाध्याय करना नहीं कल्पता है। निशीथ सूत्र के उन्नीसवें उद्देशे में अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने से प्रायश्चित्त बतलाया है। यह प्रश्न होता है कि अस्वाध्याय सूत्रागम के हैं या अर्थागम के? और क्या अस्वाध्याय

में स्वाध्याय के पाँचों ही प्रकारों का निषेध है ? स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान की टीका में इसका कुछ स्पष्टीकरण मिलता है। वह इस प्रकार है-'स्वाध्यायो नन्द्यादिसूत्रविषयो वाचनादिः, अनुप्रेक्षा तु न निषिध्यते' अर्थात् यहाँ स्वाध्याय से नन्दी आदि सूत्र की वाचना वगैरह समझना, अनुप्रेक्षा की मना नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अस्वाध्याय में सूत्रागम के पठन पाठनादि का निषेध है, उसके अर्थ के चिन्तन मनन के लिये मना नहीं है।

भगवती सूत्र में कहा है कि देवताओं की भाषा अर्द्धमागधी है। सूत्रों की भी यही भाषा है। सूत्रों के देववाणी में होने तथा देवाधिष्ठित होने के कारण अस्वाध्याय को टालना चाहिये। अस्वाध्याय के प्रकारों में से कई एक व्यन्तर देव सम्बन्धी हैं। उनमें स्वाध्याय करने से उनके द्वारा उपसर्ग होने की संभावना रहती है। कई अस्वाध्याय ऐसे हैं जो देवकृत भी होते हैं और स्वाभाविक भी होते हैं। स्वाभाविक होने पर वे अस्वाध्याय रूप नहीं होते। पर वे स्वाभाविक हैं यह मालूम होना कठिन है। इसलिये शास्त्रकारों ने उनका सामान्यतः परिहार करने के लिये कहा है। कुछ अस्वाध्याय संयम रक्षा के ख्याल से कहे गये हैं, जैसे धूँवर, आँधी आदि। रक्त मांस या अशुचि के समीप स्वाध्याय करना लौकिक दृष्टि से घृणित है तथा देवभाषा की अवहेलना होने से देवता भी कष्ट दे सकते हैं। किसी बड़े आदमी की मृत्यु होने पर या आसपास किसी की मृत्यु होने पर स्वाध्याय करना व्यवहार में शोभा नहीं देता। लोग कहते हैं कि हम लोग दुःखी हैं पर इन्हें हमारे प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। राजविग्रह आदि से अशान्ति होने पर मन के अस्थिर होने की सम्भावना रहती है, लोग दुःखी होते हैं इसलिये ऐसे समय स्वाध्याय करना भी लोक विरुद्ध है। उपरोक्त कारणों से तथा ऐसे ही अन्य

कारणों को लक्ष्य में रख कर शास्त्रकारों ने आगे कही जाने वाली बातों को अस्वाध्याय ठहराया है।

आचार्यों ने अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने से होने वाले अपाय भी बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं—

एए सामण्णयरे ऽसज्झाए, जो करेइ सज्झायं।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तं विराहणं पावे॥

भावार्थ—अस्वाध्याय के इन प्रकारों में से जो किसी भी अस्वाध्याय में स्वाध्याय करता है वह तीर्थङ्कर की आज्ञा का भंग करता है और मिथ्यात्व तथा विराधना का भागी होता है।

सुअ णाणम्मि अभत्ती, लोअविरुद्धं पमत्त छलणा य।
विज्जा साहण वइगुण्णं, धम्मया एवं मा कुणसु॥

भावार्थ—अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने से श्रुतज्ञान की अभक्ति होती है, लोकविरुद्ध आचरण होता है। ऐसा करने वाला प्रमादी व्यक्ति देवता से भी छला जा सकता है। विद्या साधन में विपरीत आचरण करने से जैसे विद्या फलवती नहीं होती इसी प्रकार यहाँ भी स्वाध्याय का फल प्राप्त नहीं होता अर्थात् कर्मों की निर्जरा नहीं होती। इसलिये अस्वायाय में स्वाध्याय न करनी चाहिये।

उम्मायं वा लभेज्जा, रोगायंकं वा पाउणे दीहं।
तित्थयरभासिआओ, भस्सइ सो संजमाओ वा॥

भावार्थ—अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने से उन्माद हो जाता है, दीर्घकालस्थायी रोग आतंक हो जाते हैं और ऐसा करने वाला तीर्थङ्करोपदिष्ट संयम से गिर जाता है।

इहलोए फलमेयं, परलोए फलं न दिंति विज्जाओ।
आसायणा सुयस्स उ, कुव्वइ दीहं च संसारं॥

भावार्थ—यह तो अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने का इहलौकिक फल हुआ। इसका पारलौकिक फल यह है। इससे

ज्ञानावरणीय कर्म बँधता है और उसके उदय से विद्या फल देने वाली नहीं होती है। ऐसा करने से श्रुत की आशातना होती है और उससे संसार की वृद्धि होती है।

णाणायार विराहिए, दंसणाचारो वि तह चरित्तं च।
चरणविराहणयाए, मुक्खाभावो मुणेयव्वो ॥

भावार्थ-अस्वाध्याय का परिहार न करने से ज्ञानाचार की विराधना होती है और उससे दर्शनाचार तथा चारित्राचार की विराधना होती है। चारित्र की विराधना होने से जीव का मोक्ष नहीं होता। फलतः उसका जन्म मरण बढ़ता है।

बत्तीस अस्वाध्याय का वर्णन स्थानांग सूत्र में है। वह इस प्रकार है-दस आकाश सम्बन्धी, दस औदारिक सम्बन्धी, चार महाप्रतिपदा, (वैशाख,श्रावण,कार्तिक और मिगसर बदी एकम) इनके पूर्ववर्ती चार पूर्णिमाएं (चैत्र, आषाढ, आश्विन, कार्तिक) और चार संध्याएं (प्रातःकाल, दोपहर, सायंकाल, अर्द्धरात्रि इन में एक मुहूर्त तक अस्वाध्याय रहती है)।

(१) उल्कापात-आकाश से रेखा वाले तेजःपुंज का गिरना अथवा पीछे से रेखा एवं प्रकाश वाले तारे का टूटना उल्कापात कहलाता है। उल्कापात के एक प्रहर तक अस्वाध्याय रहती है।

(२) दिग्दाह-दिशा विशेष में मानों बड़ा नगर जल रहा हो इस प्रकार ऊपर की ओर प्रकाश दिखाई देना और नीचे अन्धकार मालूम होना दिग्दाह है। दिग्दाह के एक प्रहर तक स्वाध्याय न करनी चाहिये।

(३) गर्जित-बादल गर्जने पर दो प्रहर तक और (४)विद्युत्-बिजली चमकने पर एक प्रहर तक स्वाध्याय न करनी चाहिए।

नोट— आर्द्रा से चित्रा नक्षत्र तक अर्थात् वर्षा ऋतु में गर्जित और विद्युत् की अस्वाध्याय नहीं होती है उस समय ये स्वभाव

से होते हैं। व्यन्तरकृत होने पर ही इन्हें अस्वाध्याय रूप माना है।

(५) निर्घात—बादल अथवा बिना बादल वाले आकाश में व्यन्तरकृत गर्जना की प्रचण्ड ध्वनि को निर्घात कहते हैं। निर्घात से एक अहोरात्रि तक अस्वाध्याय रखना चाहिये।

(६) यूपक—शुक्लपक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्र की प्रभा का मिल जाना यूपक है। इन दिनों में चन्द्रप्रभा से आवृत होने के कारण सन्ध्या का बीतना मालूम नहीं होता। इसलिये इन तीनों दिनों में रात्रि की पहली प्रहर में स्वाध्याय करना मना है।

(७) यक्षादीप्त—दिशाविशेष में बिजली सरीखा, बीच बीच में ठहर कर जो प्रकाश दिखाई देता है उसे यक्षादीप्त कहते हैं। यक्षादीप्त से एक प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिये।

(८) धूमिका—कार्तिक से लेकर माघ मास तक का समय गर्भमास कहा जाता है। इस काल में जो धूम्र वर्ण धूँवर पड़ती है वह धूमिका कहलाती है। धूमिका गिरने के साथ ही सभी को जलमय कर देती है। इसलिये यह जब तक गिरती रहे तब तक स्वाध्याय न करना चाहिये।

(९) महिका—उक्त गर्भमास में जो श्वेत वर्ण की धूंवर पड़ती है वह महिका कहलाती है। यह भी जब तक गिरती रहे तब तक अस्वाध्याय रहता है।

(१०) रज उद्घात—स्वाभाविक रूप से वायु से प्रेरित होकर आकाश में चारों ओर धूल छा जाती है उसे रज उद्घात कहते हैं। रज उद्घात जब तक रहे तब तक स्वाध्याय न करना चाहिये।

ये दस आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय हैं।

(११-१३) अस्थि, मांस और शोणित—पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च के अस्थि, मांस और शोणित (रक्त) साठ हाथ के अन्दर हों तो

संभव काल से तीन प्रहर तक स्वाध्याय करना मना है। यदि साठ हाथ के अन्दर बिल्ली वगैरह चूहे आदि को मार डालें तो एक दिनरात अस्वाध्याय रहता है। इसी तरह मनुष्य सम्बन्धी मांस और लोही का भी अस्वाध्याय समझना चाहिये। अन्तर केवल इतना है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्रियों के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन का एवं बालक और बालिका के जन्म का क्रमशः सात और आठ दिन का माना गया है। मनुष्य की अस्थि १०० हाथ तक हो तो उसका अस्वाध्याय बारह वर्ष तक रहता है, चाहे वह पृथ्वी में ही क्यों न गड़ी हो। चिताग्नि में जली हुई एवं जल प्रवाह में बही हुई हड्डी स्वाध्याय में बाधक नहीं है।

(१४) अशुचि-टट्टी पेशाब यदि स्वाध्याय के स्थान के समीप हों और वे दृष्टि गोचर हों या उनकी बदबू आती हो तो स्वाध्याय का परिहार करना चाहिये।

(१५) श्मशान-श्मशान के चारों तरफ सौ सौ हाथ तक स्वाध्याय न करना चाहिये।

(१६) चन्द्रग्रहण-चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ एवं उत्कृष्ट बारह प्रहर तक स्वाध्याय न करना चाहिये यदि उगता हुआ चन्द्र ग्रसित हो गया हो तो चार प्रहर उस रात के एवं चार प्रहर आगामी दिवस के-ये आठ प्रहर स्वाध्याय न करना चाहिये। यदि चन्द्रमा प्रभात के समय ग्रहणसहित अस्त हो तो चार प्रहर दिन के, चार प्रहर रात के एवं चार प्रहर दूसरे दिन के-इस प्रकार बारह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिये। यदि सारी रात ग्रहण रहे और ग्रहण के साथ ही चन्द्रमा अस्त हो तो चार प्रहर रात के और आठ प्रहर आगामी दिन रात के-ये बारह प्रहर तक स्वाध्याय न करना चाहिये। बादलों के होने से रात्रि को ग्रहण

का पता न लगे और सुबह चन्द्र ग्रहण सहित अस्त होता दिखाई दे तो चार प्रहर रात्रि के और आठ प्रहर आगामी दिन रात के-यों बारह प्रहर तक स्वाध्याय न करना चाहिये।

(१७) सूर्यग्रहण-सूर्यग्रहण होने पर जघन्य बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिये। सूर्य अस्त होते समय ग्रसित हो तो चार प्रहर रात के और आठ प्रहर आगामी अहोरात्रि के-इस प्रकार बारह प्रहर गिनना चाहिये। यदि उगता हुआ सूर्य ग्रसित हो जाय तो उस दिन रात के आठ एवं आगामी दिन रात के आठ-इस तरह सोलह प्रहर तक स्वाध्याय न करना चाहिये। यदि सारे दिन ग्रहण रहे और ग्रहण के साथ ही सूर्य अस्त हो तो उस दिन रात एवं आगामी दिन रात के सोलह प्रहर तक स्वाध्याय का परिहार करना चाहिये। आकाश के मेघाच्छन्न होने के कारण यदि ग्रहण न दिखाई दे और शाम को सूर्य ग्रसित ही अस्त हो तो उस दिन रात एवं आगामी दिन रात के सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिये।

(१८) पतन-राजा की मृत्यु होने पर जब तक दूसरा राजा न हो तब तक स्वाध्याय करना मना है। नया राजा हो जाने के बाद भी एक दिन रात तक स्वाध्याय न करना चाहिये। राजा की जीवितावस्था में भी यदि राज्य में अव्यवस्था या अशान्ति फैल जाय तो वापिस व्यवस्था या शान्ति होने तक तथा उसके बाद भी एक अहोरात्र के लिये अस्वाध्याय रखा जाता है। दण्डिक (दण्ड देने वाले-अपराध के विचारकर्त्ता अधिकारी पुरुष) की मृत्यु होने पर भी अन्य व्यक्ति को उसके स्थान पर नियुक्त न किया जाय तब तक स्वाध्याय न करना चाहिये। गांव के मुखिया, बड़े परिवार वाले और शय्यातर की तथा उपाश्रय से सात घरों के अन्दर अन्य किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाय तो एक दिन रात के लिये अस्वाध्याय रखना चाहिये।

(१६) राजव्युद्ग्रह–राजा और सेनापतियों के बीच संग्राम हो, ग्राम के प्रधान, प्रसिद्ध स्त्री पुरुष और मल्लों के बीच लड़ाई हो तथा लोग बाहु युद्ध अथवा पत्थर ढेलों द्वारा लड़ रहे हों या गालीगलौज करते हों, ऐसे समय इनकी शान्ति होने तक तथा उसके बाद भी एक अहोरात्र तक स्वाध्याय न करना चाहिये।

(२०) उपाश्रय में औदारिक शरीर–उपाश्रय में तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय या मनुष्य का निर्जीव शरीर पड़ा हो तो सौ हाथ के अन्दर स्वाध्याय का परिहार करना चाहिये।

ये दस औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय हैं। चन्द्र ग्रहण और सूर्य ग्रहण को औदारिक अस्वाध्याय में इसलिए गिना है कि उनके विमान पृथ्वी के बने होते हैं। आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय आकस्मिक हैं, इसके विपरीत चद्र सूर्य के विमान शाश्वत हैं। यही भेद दिखाने के लिये इन्हें आकाश सम्बन्धी अस्वाध्यायों में न गिन कर औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय प्रकारों में दिया है।

(२१–२८) चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा–आषाढ़ पूर्णिमा, आश्विन पूर्णिमा, कार्तिक पूर्णिमा और चैत्र पूर्णिमा– ये चार महोत्सव हैं। ये चारों महोत्सव जिस देश में जिस समय से प्रारम्भ होकर पूर्ण होते हैं उस काल में स्वाध्याय करना मना है। शास्त्रकारों ने उक्त महोत्सवों के चारों अन्तिम दिन दिये हैं। इन पूर्णिमाओं के बाद आने वाली चार महाप्रतिपदाओं में भी स्वाध्याय का परिहार किया जाता है। आजकल उक्त पूर्णिमाओं और उनके बाद की प्रतिपदाओं (सावण वदी प्रतिपदा, कार्तिक वदी प्रतिपदा, मिगसर वदी प्रतिपदा और वैशाख वदी प्रतिपदा) में स्वाध्याय का परिहार किया जाता है।

नोट—निशीथ सूत्र के उन्नीसवें उद्देशे में आश्विन के बदले भाद्रपद की महाप्रतिपदा को अस्वाध्याय माना है। इसलिये भाद्रपद

पूर्णिमा और आसोज वदी प्रतिपदा इन दो अस्वाध्यायों को बत्तीस अस्वाध्यायों में मिलाकर चौतीस अस्वाध्याय भी गिनते हैं। किन्तु निशीथ और स्थानाङ्ग दोनों में ही चार महाप्रतिपदाएं वर्णित हैं। व्यवहार भाष्य, हरिभद्रीयावश्यक आदि में भी महाप्रतिपदाएं चार ही मानी हैं। पांच महाप्रतिपदाओं का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। इसीलिए यहाँ बत्तीस अस्वाध्याय दिये हैं।

(२६-३२) प्रातःकाल, दुपहर, सायंकाल और अर्द्धरात्रि ये चारों संध्याए हैं। इन संध्याओं में भी स्वाध्याय न करना चाहिये।

स्थानांग सूत्र में उक्त प्रकार से बत्तीस अस्वाध्यायों का वर्णन है। व्यवहार भाष्य एवं हरिभद्रीयावश्यक में भी अस्वाध्यायों का वर्णन है पर वह और ढंग से दिया गया है। वहां आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ के भेद से अस्वाध्याय के दो प्रकार कहे हैं। आत्मसमुत्थ (आत्मा से होने वाले) अस्वाध्याय एक या दो प्रकार के हैं। एक प्रकार का अर्थात् व्रण से होने वाला अस्वाध्याय साधु के होता है और दो प्रकार के अर्थात् व्रण एवं मासिकधर्म से होने वाले आत्मसमुत्थ अस्वाध्याय साध्वी के होते हैं। परसमुत्थ अर्थात् आत्मभिन्न कारणों से होने वाले अस्वाध्याय के पांच प्रकार दिये हैं—संयमघाती, औत्पातिक, देवताप्रयुक्त, व्युद्ग्रह जनित एवं शरीर से होने वाला अस्वाध्याय। अस्वाध्याय के इन पांच भेदों के प्रभेदों में उक्त बत्तीसों अस्वाध्यायों का तथा औरों का भी वर्णन दिया गया है। संयमघाती के अन्तर्गत महिका, वर्षा और सचित्त रज के अस्वाध्याय दिये है। औत्पातिक अस्वाध्याय में पांशुवृष्टि, मांसवृष्टि, रुधिरवृष्टि, केशवृष्टि, शिलावृष्टि (ओलों की वर्षा) तथा रज उद्घात—इन्हें अस्वाध्याय माना है। देवताप्रयुक्त अस्वाध्याय में गंधर्वनगर, दिग्दाह, विद्युत्, उल्का, यूपक और यक्षादीप्त अस्वाध्यायों का वर्णन है। इनमें गंधर्व-

नगर देवता प्रयुक्त ही होता है। शेष को देवकृत या स्वाभाविक दोनों प्रकार का माना है। देवकृत होने पर ये अस्वाध्याय रूप होते हैं। स्वाभाविक होने पर नहीं। पर इनका यह भेद मालूम करना कठिन है इसलिए सामान्य रूप से इन्हें अस्वाध्याय माना जाता है। इनके सिवाय चन्द्र ग्रहण, सूर्य ग्रहण, निर्घात और गुञ्जित भी देवता प्रयुक्त अस्वाध्याय के अन्तर्गत दिये हैं। देवताप्रयुक्त अस्वाध्यायों का वर्णन करते हुए चार सन्ध्या, चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदाओं को भी अस्वाध्याय रूप बतलाया है। व्युद्ग्रह जनित अस्वाध्याय में राजा और सेनापतियों के बीच होने वाले संग्राम, प्रसिद्ध स्त्री पुरुषों की लड़ाई, मल्लयुद्ध तथा दो गांवों के तरुणों का पत्थर ढेले आदि से लड़ना, पारस्परिक कलह आदि को अस्वाध्याय माना है। राजा, दण्डिक, ग्राम के प्रधान, दुर्गपति, शय्यातर आदि की मृत्यु सम्बन्धी अस्वाध्याय को भी व्युद्ग्रह के अन्तर्गत ही कहा है। उपाश्रय से सात घरों के अन्दर कोई व्यक्ति मर गया हो तो उसकी अस्वाध्याय रखने के लिए भी कहा है। यदि कोई अनाथ उपाश्रय से सौ हाथ के अन्दर मरा पड़ा हो तो भी स्वाध्याय के लिए निषेध किया है। शरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय मनुष्य और तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार के हैं। तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के रक्त, मांस, अस्थि और चर्म—ये चारों यदि साठ हाथ के अन्दर हों तो स्वाध्याय न करनी चाहिए। उपाश्रय से साठ हाथ के अन्दर बिल्ली वगैरह चूहे आदि को मार दें, अण्डा गिर जाय, जरायुज और पोतज का प्रसव हो तो भी अस्वाध्याय रखने के लिए कहा है। मनुष्य के भी रक्त मांस चर्म और अस्थि यदि सौ हाथ के अन्दर हों तो स्वाध्याय का परिहार करने के लिए कहा है। श्मशान में स्वाध्याय करने के लिए मना किया है। बालक बालिका के

जन्म एवं मासिक धर्म होने पर भी अस्वाध्याय रखने के लिये कहा है। जिस गांव में अशिव–महामारी आदि बीमारी या भूखमरी के कारण बहुत से लोग मरे हों और निकाले न गये हों अथवा जहाँ संग्राम में बहुत से आदमी मरे हों ऐसे स्थानों में बारह वर्ष तक स्वाध्याय करने के लिये मना किया है। छोटे गांव में यदि कोई मर गया हो तो जब तक उसे गांव से बाहर न ले जावें तब तक अस्वाध्याय रखना चाहिये। शहरों में मोहल्ले से बाहर न निकालें तब तक अस्वाध्याय रखने को कहा है। उपाश्रय के पास मुर्दा ले जाते हों तो वह सौ हाथ से आगे न निकल जाय तब तक स्वाध्याय का परिहार करना चाहिये।

उक्त व्यवहार भाष्य एवं हरिभद्रीयावश्यक में इन अस्वाध्यायों के भेदों का वर्णन द्रव्य क्षेत्र काल भाव के भेद से विस्तार पूर्वक शंका समाधान के साथ दिया गया है। यहाँ अस्वाध्याय का काल स्थानाङ्ग सूत्र की टीका एवं इन्हीं ग्रन्थों से लिया गया है। विशेष जिज्ञासा वाले महाशयों को ये सूत्र देखना चाहिये।

(स्थानाङ्ग ४ सूत्र २८५, स्थानाङ्ग १० सूत्र २७४ प्र० सा० २६८ द्वार गाथा १४५०-७१)
(व्यवहारभाष्य उद्देशा ७)(हरिभद्रीयावश्यक प्रतिक्रमणाध्ययन अस्वाध्यायिक निर्युक्ति)

९६९–वन्दना के बत्तीस दोष

आध्यात्मिक विकास में वन्दना को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। साधु और श्रावक के दैनिक कर्त्तव्यों में इसीलिये इसका समावेश किया गया है। 'सो पावइ णिव्वाणं अचिरेण विमाणवासं वा' कह कर शास्त्रकारों ने निर्वाण एवं सुरलोक की प्राप्ति इसका फल बतलाया है। इसके आचरण से कर्मों की महानिर्जरा होती है। पर यह वन्दना विशुद्ध होनी चाहिये। विशुद्धि के लिये मुमुक्षु को वन्दना के बत्तीस दोषों का परिहार करना चाहिये। बत्तीस दोष क्रमशः नीचे दिये जाते हैं:—

(१) अनादृत—सम्भ्रम, आदरभाव के विना वन्दना करना।

(२) स्तब्ध—जातिमद आदि से गर्वान्वित होकर वन्दना करना स्तब्ध दोष है। इसके चार भंग हैं—द्रव्य से स्तब्ध हो परन्तु भाव से नहीं (२) भाव से स्तब्ध हो परन्तु द्रव्य से नहीं (३) द्रव्य भाव दोनों से स्तब्ध हो (४) द्रव्य भाव दोनों से स्तब्ध न हो। इसमें चौथा भंग शुद्ध है। शेष भंगों में भाव से स्तब्ध होना दूषित है। रोगादि कारणों से झुक न सकने के कारण द्रव्य से स्तब्ध होना अदूषित हो सकता है। अन्यथा वह भी दूषित ही है।

(३) प्रविद्ध—अनियन्त्रित यानी अस्थिर होकर वन्दना करना या वन्दना अधूरी छोड़कर भाग जाना प्रविद्ध दोष है।

(४) परिपिण्डित—एक स्थान पर रहे हुए आचार्यादि को पृथक् पृथक् वन्दना न कर एक ही वन्दना से सभी को वन्दना करना परिपिण्डित दोष है। अथवा उरु पर हाथ रखकर हाथ पैर बांधे हुए अस्पष्ट उच्चारण पूर्वक वन्दना करना परिपिण्डित दोष है।

(५) टोलगति—टिड्डे की तरह आगे पीछे कूदकर वन्दना करना।

(६) अंकुश—रजोहरण को अंकुश की तरह दोनों हाथों से पकड़ कर वन्दना करना अंकुश दोष है। अथवा जैसे अंकुश से हाथी बलात् बिठाया जाता है उसी प्रकार खड़े हुए, सोये हुए अथवा अन्य कार्य में लगे हुए आचार्यादि को अवज्ञापूर्वक उपकरण या हाथ पकड़ कर खींचना एवं वन्दना करने के निमित्त उन्हें आसन पर बिठलाना अंकुश दोष है।

(७) कच्छप रिंगित—'तित्तिसन्नयराए' आदि पाठ कहते समय खड़े होकर अथवा 'अहो कायं काय' इत्यादि पाठ बोलते समय बैठ कर कछुए की तरह रेंगते हुए अर्थात् आगे पीछे चलते हुए वन्दना करना कच्छप रिंगित दोष है।

(८) मत्स्योद्वृत्त—आचार्यादि को वन्दना कर, बैठे बैठे ही

मछली की तरह शीघ्र पार्श्व फेर कर पास में बैठे हुए रत्नाधिक साधुओं को वन्दना करना मत्स्योद्वृत्त दोष है।

(९) मनसा प्रद्विष्ट—वन्दनयोग्य रत्नाधिक साधु में गुण विशेष नहीं है, यह भाव मन में रख कर असूया पूर्वक वन्दना करना मनसा प्रद्विष्ट दोष है। अथवा शिष्य को या उसके सम्बन्धी, मित्र आदि को आचार्य महाराज ने कोई कठोर या अप्रिय वचन कह दिया हो, इससे अथवा और किसी कारण से मन में द्वेष भाव रखते हुए वन्दना करना मनसा प्रद्विष्ट दोष है।

(१०) वेदिकाबद्ध—दोनों घुटनों के ऊपर, नीचे पार्श्व में अथवा गोदी में हाथ रख कर या किसी एक घुटने को दोनों हाथों के बीच में करके वन्दना करना वेदिकाबद्ध दोष है।

(११) भय—आचार्यादि कहीं गच्छ से बाहर न कर दें इस भय से उन्हें वन्दना करना भय दोष है।

(१२) भजमान—ये हमें भजते हैं यानी हमारे अनुकूल चलते हैं अथवा भविष्य में हमारे अनुकूल रहेंगे इस ख्याल से आचार्यादि को 'भो आचार्य ! हम आपको वन्दना करते हैं' इस प्रकार निहोरा देते हुए वन्दना करना भजमान वन्दनक दोष है।

(१३) मैत्री—वन्दना करने से आचार्यादि के साथ मैत्री हो जायगी, इस प्रकार मैत्री निमित्त वन्दना करना मैत्री दोष है।

(१४) गौरव—दूसरे साधु यह जान लें कि यह साधु वन्दन विषयक समाचारी में कुशल है इस प्रकार गौरव की इच्छा से विधि पूर्वक यथावत् वन्दना करना गौरव दोष है।

(१५) कारण—ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सिवाय अन्य ऐहिक वस्त्रादि वस्तुओं के लिए वन्दना करना कारण दोष है। 'मैं लोक में पूज्य हो जाऊँगा, अन्य श्रुतधर साधुओं से बढ़ जाऊँगा' इस प्रकार पूजा प्रतिष्ठा के खातिर ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से

वन्दना करना भी कारण दोष से दूषित है क्योंकि इस वन्दना का मुख्य उद्देश्य ज्ञान नहीं किन्तु पूजा प्रतिष्ठा है।

(१६) स्तैन्य–दूसरे साधु या श्रावक मुझे वन्दना करते हुए देख न लें, मेरी लघुता प्रगट न हो, इस भाव से चोर की तरह छिप कर या उनकी दृष्टि बचाते हुए वन्दना करना स्तैन्य दोष है।

(१७) प्रत्यनीक–गुरु महाराज आहारादि करते हों उस समय उन्हें वन्दना करना प्रत्यनीक दोष है।

(१८) रुष्ट–क्रोध से जलते हुए वन्दना करना रुष्ट दोष है।

(१९) तर्जित–'आप तो काष्ठमूर्ति की तरह हैं, वन्दना न करने से न नाराज होते हैं और वन्दना करने से न प्रसन्न ही होते हैं' इस प्रकार तर्जना देते हुए वन्दना करना तर्जित दोष है। अथवा 'यहाँ जनता के बीच मुझ से वन्दना करा रहे हो, पर अकेले में पता लगेगा,' इस प्रकार वन्दना करते हुए मस्तक अथवा अंगुली से गुरु को धमकी देना तर्जित दोष है।

(२०) शठ–'विधिवत् वन्दना करने से श्रावक आदि का मुझ पर विश्वास बढ़ेगा' इस अभिप्राय से भाव बिना सिर्फ दिखावे के लिये वन्दना करना शठ दोष है। अथवा बीमारी का झूठा बहाना कर सम्यक् प्रकार से वन्दना न करना शठ दोष है।

(२१) हीलित–'आपको वन्दना करने से क्या लाभ?' इस प्रकार हँसी करते हुए अवहेलनापूर्वक वन्दना करना हीलित दोष है।

(२२) विपरिकुंचित–वन्दना को अधूरी छोड़ कर देश आदि की कथा करने लगना विपरिकुंचित दोष है।

(२३) दृष्टादृष्ट–बहुत से साधु वन्दना कर रहे हों उस समय किसी साधु की आड़ में वन्दना किये बिना खड़े रहना या अंधेरी जगह में वन्दना किये बिना ही चुपचाप जाकर बैठ जाना तथा आचार्यादि के देख लेने पर वन्दना करने लगना दृष्टादृष्ट दोष है।

(२४) शृंग-वन्दना करते समय ललाट के बीच दोनों हाथ न लगा कर ललाट की बाँयीं या दाहिनी तरफ लगाना शृंग दोष है।

(२५) कर-वन्दना को निर्जरा का हेतु न मान कर उसे अरिहंत भगवान् का कर (महसूल) समझना कर दोष है।

(२६) मोचन-साधु व्रत लेकर हम लौकिक कर (महसूल) से छूट गये परन्तु वन्दना रूप अरिहंन्त भगवान् के कर से मुक्ति न हुई-यह सोचते हुए वन्दना करना मोचन दोष है। अथवा वन्दना से ही मुक्ति संभव है, वन्दना बिना मोक्ष न होगा, यह सोच कर विवशता के साथ वन्दना करना मोचन दोष है।

(२७) आश्लिष्ट अनाश्लिष्ट-'अहो कायं काय' इत्यादि आवर्त्त देते समय दोनों हाथों से रजोहरण और मस्तक को छूना चाहिये। ऐसा न कर केवल रजोहरण को छूना और मस्तक को न छूना, या मस्तक को छूना और रजोहरण को न छूना अथवा दोनों को ही न छूना आश्लिष्ट अनाश्लिष्ट दोष है।

(२८) ऊन-आवश्यक वचन एवं नमनादि क्रियाओं की अपेक्षा अधूरी वन्दना करना अथवा उत्सुकता के करण थोड़े ही समय में वन्दना की क्रिया समाप्त कर देना ऊन दोष है।

(२९) उत्तर चूड़ा-वन्दना देकर पीछे ऊँचे स्वर से 'मत्थएण वंदामि' कहना उत्तरचूड़ा दोष है।

(३०) मूक-पाठ का उच्चारण न कर वन्दना करना मूक दोष है।

(३१) ढड्ढर-ऊँचे स्वर से वन्दनासूत्र का उच्चारण करते हुए वन्दना करना ढड्ढर दोष है।

(३२) चुडुली-अर्द्धदग्ध काष्ठ की तरह रजोहरण को सिरे से पकड़ कर उसे घुमाते हुए वन्दना करना चुडुली दोष है।

(हरिभद्रीयावश्यक वन्दनाध्ययन गाथा १२०७से १२११) (सनिर्युक्तिकलघु-भाष्यवृत्तिक बृहत्कल्प सूत्र तीसरा उद्देशा गाथा ४४७१ से ४४९४ टीका) (प्रवचनसारोद्धार दूसरा वन्दनक द्वार गाथा १५० से १७३)

९७०—सामायिक के बत्तीस दोष

मन के दस, वचन के दस और काया के बारह, इस प्रकार सामायिक के बत्तीस दोष हैं। मन और वचन के दोष इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ७६४ और ७६५ में तथा काया के दोष इसी ग्रन्थ के चौथे भाग में बोल नं० ७८६ में व्याख्या सहित दिये गये हैं।

९७१—बत्तीस विजय

जम्बूद्वीप में नीलवंत वर्षधर पर्वत के दक्षिण में और निषध वर्षधर पर्वत के उत्तर में महाविदेह क्षेत्र है इसके पूर्व और पश्चिम में लवण समुद्र है। महाविदेह क्षेत्र के मनुष्यों के देह की महती अवगाहना होती है। देवकुरु और उत्तरकुरु के मनुष्यों की अवगाहना तीन कोश की एवं विजय क्षेत्रों के मनुष्यों की अवगाहना पाँच सौ धनुष की होती है। इसलिये इस क्षेत्र को महाविदेह कहते हैं। अथवा यह क्षेत्र भरत आदि अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक विस्तार वाला है इसलिये अथवा महाविदेह नामक देव द्वारा अधिष्ठित होने से यह महाविदेह कहा जाता है। इस के मध्य में सुमेरु पर्वत है। सुमेरु के पूर्व में पूर्व विदेह, पश्चिम में अपर विदेह, उत्तर में उत्तरकुरु एवं दक्षिण में देवकुरु है। देवकुरु और उत्तरकुरु युगलियों के क्षेत्र हैं। पूर्वविदेह एवं अपरविदेह कर्मभूमि हैं। यहाँ तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव जन्म लेते हैं। सदा भरतक्षेत्र के चौथे आरे जैसी स्थिति रहती है किन्तु यहाँ छह आरे नहीं होते।

पूर्वविदेह सीता महानदी से दो भागों में विभक्त हो गया है। सीता के उत्तर में और नीलवन्त पर्वत के दक्षिण में पर्वत और नदी इस क्रम से चार पर्वत और तीन नदियों से विभक्त आठ विजय क्षेत्र हैं। इनके पश्चिम में माल्यवान् पर्वत और पूर्व में जम्बूद्वीप की जगती से लगता हुआ उत्तर सीतामुख वन है। सीता

के दक्षिण में और निषध पर्वत के उत्तर में भी पर्वत और नदियों से विभक्त आठ विजय क्षेत्र हैं। इनके पश्चिम में सौमनस पर्वत और पूर्व में दक्षिण सीतामुख वन है। अपरविदेह भी पूर्वविदेह की तरह सीतोदा महानदी द्वारा दो भागों में विभक्त है। सीतोदा महानदी के दक्षिण में और निषध पर्वत के उत्तर में चार पर्वत और तीन नदियों से विभक्त आठ विजय क्षेत्र हैं। इनके पूर्व में विद्युत्प्रभ नामक पर्वत है और पश्चिम में दक्षिण सीतोदा मुखवन है। सीतोदा के उत्तर में और नीलवन्त-पर्वत के दक्षिण में भी क्रमशः पर्वत और नदियों से विभक्त आठ विजय क्षेत्र हैं। इनके पूर्व में गन्धमादन पर्वत और पश्चिम में उत्तर सीतोदा मुखवन है। इस प्रकार पूर्व और अपरविदेह में बत्तीस विजय क्षेत्र हैं। ये क्षेत्र उत्तर दक्षिण में लम्बे और पूर्व पश्चिम में चौड़े हैं। ये आयत चतुष्कोण हैं इसलिये पल्यंक संस्थान वाले हैं। प्रत्येक विजय वैताढ्य पर्वत एवं दो नदियों से विभाजित होकर छः खण्ड वाला है। सीता के उत्तर की तरफ तथा सीतोदा के दक्षिण की तरफ के विजयों में गंगा और सिन्धु नदियाँ हैं और सीता के दक्षिण की तरफ एवं सीतोदा के उत्तर की तरफ के विजयों में रक्ता और रक्तवती नाम की नदियाँ हैं।

सीता महानदी के उत्तर की ओर के आठों विजय, मेरु पर्वत से ईशानकोन में स्थित गजदंत के आकार वाले माल्यावान पर्वत से पूर्व में हैं। ये आठों विजय और इनके विभाजक पर्वत और नदियाँ इस क्रम से हैं—कच्छविजय, चित्रकूट पर्वत, सुकच्छ विजय ग्राहावती नदी, महाकच्छ विजय, ब्रह्मकूट पर्वत, कच्छावती विजय, द्रहावती नदी, आवर्त्त विजय, नलिनीकूटपर्वत, मंगलावर्त्त विजय, पंकावती नदी, पुष्कलावर्त्त विजय, एक शैलकूट पर्वत, पुष्कलावती विजय। विजय क्षेत्रों की राजधानियों के नाम क्रमशः ये हैं—

क्षेमा, क्षेमपुरा, अरिष्टा, अरिष्टापुरा, खड्गी, मंजूषा, औषधि और पुंडरिकिणी। पुष्कलावती विजय से पूर्व की ओर उत्तर सीता मुखवन है जो कि जम्बूद्वीप की जगती से लगा हुआ है।

सीता महानदी के दक्षिण की ओर नवें से सोलहवें तक आठ विजय हैं। उक्त नदी के उत्तर के भाग में जैसे जगती से लगा हुआ उत्तरसीतामुख वन है उसी प्रकार इसके दक्षिण भाग में भी दक्षिण सीतामुख वन है। इस वन से पश्चिम मे उत्तरोत्तर आठ विजय और उनके विभाजक पर्वत और नदियाँ हैं। ये सभी इस क्रम से स्थित हैं-वत्स विजय, त्रिकूट पर्वत, सुवत्स विजय, तप्तजला नदी, महा वत्स विजय, वैश्रमणकूट पर्वत, वत्सावती विजय, मत्तजला नदी, रम्य विजय, अंजन पर्वत, रम्यक् विजय, उन्मत्तजला नदी, रमणीय विजय, मातञ्जन पर्वत, मंगलावती विजय। मंगलावती विजय से पश्चिम में गजदन्ताकार सौमनस पर्वत है। यह पर्वत मेरु पर्वत से अग्निकोण में स्थित है। आठों विजयों की राजधानियों के नाम क्रमशः ये हैं—सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभङ्करा, अङ्कावती, पद्मावती, शुभा और रत्नसंचया।

अपरविदेह में सीतोदा महानदी के दक्षिण तट पर सत्रहवें से चौवीसवें तक आठ विजय हैं। ये क्षेत्र मेरु पर्वत से नैऋत्य कोण में स्थित गजदन्ताकृति वाले विद्युत्प्रभ पर्वत से क्रमशः पश्चिम की ओर हैं। उक्त क्षेत्र एवं उनके विभाजक पर्वत और नदियाँ उत्तरोत्तर पश्चिम की ओर इस क्रम से रहे हुए हैं:—पद्म विजय, अंकावती पर्वत, सुपद्म विजय, क्षीरोदा नदी, महापद्म विजय, पद्मावती पर्वत, पद्मावती विजय, शीतश्रोता नदी, शंख विजय, आशीविष पर्वत, कुमुद विजय, अन्तर्वाहिनी नदी, नलिन विजय, सुखावह पर्वत, नलिनावती विजय। आठों विजयों की राजधानियाँ क्रमशः ये हैं—अश्वपुरा, सिंहपुरा, महापुरा, विजयपुरा, अपराजिता,

अरजा, अशोका, वीतशोका, । नलिनावती के आगे दक्षिण सीतोदा-मुखवन है। यह जम्बूद्वीप की पश्चिम की जगती से लगा हुआ है।

सीतोदा महानदी के दक्षिण तट की तरह उत्तर तट पर भी पचीसवें से बत्तीसवें तक आठ विजय हैं। ये आठों विजय उत्तर सीतोदामुखवन से क्रमशः पूर्व में हैं। ये विजय क्षेत्र और उनके विभाजक पर्वत तथा नदियाँ इस क्रम से रहे हुए हैं– वप्र विजय, चन्द्र पर्वत, सुवप्र विजय, ऊर्मिमालिनी नदी, महावप्र विजय, सूर पर्वत, वप्रावती विजय, फेनमालिनी नदी, वल्गु विजय, नाग पर्वत, सुवल्गु विजय, गम्भीर मालिनी नदी, गंधिल विजय, देव पर्वत, गंधिलावती विजय । इसके आगे पूर्व में गजदन्त सरीखे आकार वाला गंधमादन पर्वत है। यह पर्वत मेरु से वायव्य कोण में स्थित है। इन क्षेत्रों की राजधानियाँ ये हैं–विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता, चक्रपुरा, खड्गपुरा, अवध्या और अयोध्या।

इन बत्तीस विजयों में जघन्य चार एवं उत्कृष्ट बत्तीस तीर्थङ्कर एक साथ होते हैं। वर्तमान समय में पुष्कलावती विजय में श्री सीमंधर स्वामी, वत्स विजय में श्री बाहु स्वामी, नलिनावती विजय में श्री सुबाहु स्वामी और वप्र विजय में श्री युगमंधर स्वामी विराजते हैं। इन बत्तीसों विजयों में विजयों के नाम वाले ही चक्रवर्ती होते हैं। विजय क्षेत्रों में चक्रवर्ती, बलदेव वासुदेव जघन्य चार चार होते हैं एवं उत्कृष्ट अट्ठाईस होते हैं। चक्रवर्ती और वासुदेव एक साथ नहीं होते इसलिये उत्कृष्ट संख्या अट्ठाईस कही गई है।

(जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ४ वक्षस्कार। (लोक प्रकाश दूसरा भाग पन्द्रहवां सर्ग)

९७२–उत्तराध्ययन सूत्र के पाँचवें अकाम-मरणीय अध्ययन की बत्तीस गाथाएं

उत्तराध्ययन सूत्र के पाँचवें अध्ययन का नाम अकाम मरणीय है। इसमें मरण के सकाम और अकाम दो भेद बतलाये गये हैं।

अशान्तिपूर्वक ध्येयशून्य जो मरण होता है वह अकाम मरण है। समाधि पूर्वक विशिष्ट ध्येय के लिये मरना सकाम मरण है। ये मरण किन्हें प्राप्त होते हैं और इनका क्या फल है? इत्यादि बातों का इस अध्ययन में सविस्तर वर्णन दिया गया है। इसमें बत्तीस गाथाएं हैं। इनका भावार्थ क्रमशः नीचे दिया जाता है–

(१) रागद्वेष का नाश करने वाले महात्मा दुस्तर और महाप्रवाह वाले इस संसार समुद्र को तिर जाते हैं। संसार सागर से पार पहुँचने के लिये प्रयत्नशील किसी जिज्ञासु के प्रश्न पूछने पर महाप्रज्ञाशाली तीर्थङ्कर देव ने यह फरमाया था।

(२) मरण रूप अन्त समय के दो स्थान बतलाये गये हैं– पहला सकाम मरण और दूसरा अकाम मरण।

(३) अज्ञानी जीव बार बार अकाम मरण मरते हैं। चारित्रशील ज्ञानी पुरुष सकाम मरण मरते हैं। उत्कर्ष प्राप्त सकाम मरण केवलज्ञानियों को एक ही बार होता है।

(४) इनमें से पहले स्थान अर्थात् अकाममरण के विषय में भगवान् महावीर ने फरमाया है कि इन्द्रिय विषयों में आसक्त अज्ञानी जीव किस प्रकार क्रूर कर्म करता है।

(५) जो काम अर्थात् शब्द और रूप में तथा भोग अर्थात् स्पर्श रस गन्ध में आसक्त है वह कूट अर्थात् मिथ्या भाषण आदि का सेवन करता है। किसी से प्रेरणा किये जाने पर वह कहता है कि परलोक किसने देखा है? शब्दादि विषय जनित आनन्द तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

(६) ये काम भोग तो प्रत्यक्ष हाथ में आये हुए हैं और जो अनागत अर्थात् आगामी जन्म सम्बन्धी हैं वे आगे होने वाले हैं और अनिश्चित हैं। कौन जानता है परलोक है भी या नहीं?

(७) कामभोगों में आसक्त अज्ञानी जीव धृष्टता पूर्वक कहता

है-संसार में बहुत से लोग कामभोगों का सेवन करते हैं, उनका जो हाल होगा वह मेरा भी होगा। कामभोगों में अनुरक्त रहने के कारण वह आत्मा यहाँ और परलोक में क्लेश प्राप्त करता है। (८) भोगों में आसक्त वह अज्ञानी जीव त्रस स्थावर प्राणियों के विषय में दण्ड का प्रयोग करता है। अपने और दूसरों के प्रयोजन से तथा कभी निष्प्रयोजन ही वह प्राणियों की हिंसा करता है।

(९) हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, छल कपट करने वाला, दूसरों के दोष प्रगट करने वाला वह अज्ञानी जीव मदिरा मांस का भोग करता है एवं उसे श्रेष्ठ मानता है।

(१०) मन वचन काया से मदान्ध बना हुआ और धन तथा स्त्रियों में आसक्त हुआ वह अज्ञानी दोनों प्रकार से यानी रागद्वेषमयी बाह्य और आभ्यन्तर प्रवृत्ति द्वारा कर्म मल संचय करता है। जैसे अलसिया मिट्टी खाता है और उसे शरीर पर भी लगाता है।

(११) इसके पश्चात् रोगों से पीड़ित हुआ वह अज्ञानी जीव मन में ग्लानि का अनुभव करता है। स्वकृत दुष्कर्मों को याद कर पर-लोक से डरा हुआ वह उनके लिये पश्चात्ताप करता है।

(१२) मैंने उन नरक के स्थानों के विषय में सुना है जहाँ दुःशील पुरुष मर कर उत्पन्न होते हैं। क्रूर कर्म करने वाले अज्ञानी जीवों को वहाँ असह्य वेदना होती है।

(१३) वहाँ नरक में वह पापी जीव उपपात जन्म से जिस प्रकार उत्पन्न होता है वह मैंने सुना है। यहाँ की स्थिति पूर्ण होने पर स्वकृत दुष्कर्मों के फल स्वरूप वहाँ जाता हुआ वह अज्ञानी जीव बहुत ही पश्चात्ताप करता है।

(१४) जैसे कोई गाड़ीवान् जानबूझ कर सीधे मार्ग को छोड़ विषम मार्ग में जाता है और वहाँ गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है।

(१५) धर्म मार्ग को छोड़ अधर्म का आचरण करने वाला वह

पापात्मा मृत्यु आने पर मारणान्तिक वेदना से विकल हुआ अपने दुष्कृत्यों के लिये ठीक उसी प्रकार पश्चात्ताप करता है जैसे गाड़ी-वान् धुरी टूट जाने पर अपनी गलती के लिये पश्चात्ताप करता है। वह कहता है-हाय! मैंने जानते हुए ऐसा पापाचरण क्यों किया?

(१६) उसके बाद वह अज्ञानी मरण रूप अन्त समय में नरक के दुःखों का स्मरण कर भयभीत होता है। जुए के दाव में हारे हुए जुआरी की तरह दिव्यसुखों को हारा हुआ वह अज्ञानात्मा शोक करता हुआ अकाम मरण मरता है।

(१७) यह अज्ञानी जीवों के अकाम मरण के विषय में कहा। अब चारित्रशील पण्डित पुरुषों के सकाम मरण के विषय में कहता हूँ। उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

(१८) पवित्र जीवन बिताकर पुण्योपार्जन करने वाले ब्रह्मचारी संयमी पुरुषों का मरण भी प्रसन्न एवं व्याघात रहित होता है अर्थात् मरण समय भी शुभ भावनाओं से उनका चित्त प्रसन्न रहता है एवं यतनापूर्वक संलेखना की आराधना करने से मृत्यु समय उनसे किसी जीव की घात नहीं होती, ऐसा मैंने सुना है।

(१९) यह मरण न सब भिक्षुओं को प्राप्त होता है और न सब गृहस्थों को ही प्राप्त होता है। गृहस्थ भी अनेक प्रकार के शील व्रत वाले होते हैं और भिक्षु भी विरूप आचार वाले होते हैं। कठिन व्रत पालने वाले भिक्षुओं को और विविध सदाचार का सेवन करने वाले गृहस्थों को ही यह मरण प्राप्त होता है।

(२०) कई (नामधारी) साधुओं से गृहस्थ अधिक संयमी होते हैं किन्तु सच्ची साधुता की दृष्टि से तो सब गृहस्थों से साधु ही अधिक संयमी होते हैं।

(२१) चीवर, मृगचर्म, नग्नता, जटा, संघाटी (उत्तरीय वस्त्र), मुंडन आदि साधुता के बाह्यचिह्न, प्रव्रज्या लेकर दुराचार का सेवन करने वाले वेशधारी साधु को, दुर्गति से नहीं बचा सकते।

(२२) भिक्षा से निर्वाह करने वाला साधु भी यदि दुराचारी हो तो वह नरक से नहीं छूट सकता। चाहे भिक्षु हो या गृहस्थ, जो व्रतों का निरतिचार पालन करता है वही स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

(२३) गृहस्थ को चाहिये कि वह सम्यक्त्व, श्रुत और देश-विरति रूप सामायिक एवं उसके अंगों का पालन करे तथा कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षों में अष्टमी चतुर्दशी आदि तिथियों के दिन पौषध करे। यदि इन तिथियों में कभी दिन का पौषध न कर सके तो रात्रि में तो अवश्य ही करे।

(२४) इस तरह व्रत पालन रूप आसेवन शिक्षा से युक्त सुव्रती श्रावक गृहस्थावास में रहते हुए भी इस औदारिक शरीर से मुक्त होकर देवलोक में उत्पन्न होता है।

(२५) समस्त आश्रवों को रोक देने वाले भावभिक्षु की दो में से एक गति होती है। या तो वह समस्त दुःखों का नाश कर सिद्धि गति में जाता है या देवगति में महाऋद्धिशाली देव होता है।

(२६) जहाँ वह देव होता है वहाँ का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं–देवों के ये आवास बहुत ऊपर हैं, प्रधान हैं, मोहरहित हैं तथा देवों से व्याप्त हैं। यहाँ रहने वाले देव महायशस्वी होते हैं।

(२७) ये देव दीर्घ स्थिति वाले, दीप्ति वाले, समृद्धिवन्त तथा इच्छानुसार रूप धारण करने वाले होते हैं। अनेक सूर्यों के समान ये तेजस्वी होते हैं। इनके शरीर के वर्ण द्युति आदि सदा जन्म समय के समान ही रहते हैं।

(२८) चाहे साधु हों या गृहस्थ हों, जिन्होंने उपशम द्वारा कषायाग्नि को शान्त कर दिया है तथा संयम और तप का आचरण किया है वे पुण्यात्मा उपरोक्त स्थानों में उत्पन्न होते हैं।

(२९) सच्चे पूजनीय, जितेन्द्रिय और संयमी पुरुषों को ऊपर बतलाये हुए स्थानों की प्राप्ति होती है यह जानकर चारित्रशील बहुश्रुत महात्मा मरणान्त समय उद्वेग नहीं पाते।

(३०) सकाम और अकाम मरण की तुलना करके तथा सकाम मरण की विशिष्टता जानकर और इसी प्रकार शेष धर्मों से यति-धर्म की विशेषता समझ कर बुद्धिमान् साधु कषायरहित हो और क्षमा द्वारा अपनी आत्मा को प्रसन्न रखे।

(३१) कषायों को शान्त करने के बाद, जब योगों की शक्ति हीन हो जाय और मरणकाल निकट हो उस समय श्रद्धावान् साधु मौत के डर से होने वाला रोमाञ्च दूर करे एवं शरीर का नाश चाहे अर्थात् शरीर की ओर निरपेक्ष हो जाय।

(३२) इसके बाद मरण समय प्राप्त होने पर साधक पुरुष शरीर का ममत्व त्याग कर संलेखनादि उपक्रमों द्वारा शरीर की घात करता हुआ भक्तप्रत्याख्यान, इंगित और पादपोपगमन, इन तीन मरणों में से किसी एक द्वारा सकाम मरण मरता है।

(उत्तराध्ययन सूत्र पाँचवा अध्ययन)

९७३-उत्तराध्ययन सूत्र के ग्यारहवें बहु-श्रुत पूजा अध्ययन की बत्तीस गाथाएं

(१) मैं बाह्य आभ्यन्तर संयोग से मुक्त हुए गृहत्यागी भिक्षु का आचार प्रगट करूँगा। उसे अनुक्रम से ध्यान पूर्वक सुनो।

(२) जो शिक्षा रहित है, अभिमानी है, रसादि में गृद्ध है, जिसने इन्द्रियों को वश नहीं किया है, जो असम्बद्ध भाषण करता है और अविनीत है वह अबहुश्रुत है।

(३) शिक्षा प्राप्त न होने के पाँच कारण हैं-अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य।

(४-५) आठ स्थानों से यह आत्मा शिक्षाशील कहा जाता है अर्थात् आठ गुणों का धारक पुरुष शिक्षा प्राप्त करने योग्य होता है-(१) हास्य क्रीड़ा न करने वाला (२) सदा इन्द्रियों का दमन

करने वाला (३) दूसरों के मर्म प्रगट न करने वाला (४) सदाचारी (५) व्रतों का निरतिचार पालन करने वाला (६) लोलुपता रहित (७) क्रोध न करने वाला तथा (८) सत्य का अनुरागी।

(६) आगे कहे जाने वाले चौदह स्थानों में रहा हुआ संयती अविनीत कहा जाता है। वह कभी मुक्ति का अधिकारी नहीं होता।

(७-६)-(१) बार बार क्रोध करने वाला (२) विकथा करने वाला अथवा दीर्घकाल तक क्रोध रखने वाला (३) मित्रता करके उसका त्याग करने वाला अथवा कृतघ्न होकर मित्र का उपकार न मानने वाला (४) शास्त्र पढ़ कर अभिमान करने वाला (५) समिति आदि में स्खलना होने से आचार्यादि का तिरस्कार करने वाला (६) मित्रों पर भी क्रोध करने वाला (७) अतिशय प्रिय मित्र की भी पीठ पीछे बुराई करने वाला (८) असम्बद्ध भाषण करने वाला (६) द्वेष करने वाला (१०) अभिमानी (११) रसादि में गृद्ध रहने वाला (१२) इन्द्रियों का निग्रह न करने वाला (१३) आहारादि पाकर साथियों को नहीं देने वाला (१४) अपने व्यवहार द्वारा सभी में अप्रीति उत्पन्न करने वाला। इन दोषों वाला व्यक्ति अविनीत कहा जाता है।

(१०-१३) पन्द्रह गुणों को धारण करने वाला पुरुष विनीत कहलाता है-(१) विनम्र वृत्ति वाला (२) अचपल-गति, स्थान, भाषा और भाव विषयक चपलता रहित (३) माया रहित (४) खेल तमाशा आदि देखने की उत्सुकता से रहित (५) किसी का तिरस्कार न करने वाला (६) विकथा का त्याग करने वाला (७) मित्रता करके उसे निभाने वाला, मित्र का उपकार करने वाला एवं उसके प्रति कृतज्ञ रहने वाला (८) शास्त्र पढ़ कर अभिमान न करने वाला (६) समिति आदि में स्खलना होने पर आचार्यादि का तिरस्कार न करने वाला (१०) मित्रों पर क्रोध न करने

वाला (११) अप्रिय मित्र की भी पीठ पीछे बुराई न कर उसके गुणों की प्रशंसा करने वाला (१२) कलह और डमर (प्राणीघात आदि) का त्याग करने वाला (१३) कुलीन (१४) लज्जावान् (१५) प्रतिसंलीन–इन्द्रियों का गोपन करने वाला । इन गुणों से युक्त तत्त्व का जानकार मुनि विनीत कहलाता है।

(१४) जो शिष्य धार्मिक व्यापारों में दत्तचित्त रह कर गुरु कुल में रहता है, शास्त्र सीखते हुए यथायोग्य आयंबिल आदि उपधान तप करता है तथा दूसरों के अप्रिय बोलने एवं अप्रिय करने पर भी उनसे प्रिय बोलता है तथा उनका प्रिय करता है वह शिक्षा प्राप्त करने योग्य है।

(१५) जिस प्रकार शंख में रहा हुआ दूध दोनों प्रकार से यानी अपने माधुर्यादि गुणों से तथा आधार पात्र के गुणों से शोभा पाता है उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म कीर्ति और श्रुतज्ञान भी दोनों प्रकार से शोभा पाते हैं।

(१६) जैसे कम्बोज देश के घोड़ों में आकीर्ण जाति का घोड़ा अतिशय वेग वाला होता है और वह उनमें प्रधान माना जाता है उसी तरह बहुश्रुत भी अन्य धार्मिक जनों की अपेक्षा श्रुत शील आदि गुणों से श्रेष्ठ अतएव उनमें प्रधान होते हैं।

(१७) जैसे आकीर्ण जाति के उत्तम घोड़े पर आरूढ़ हुआ दृढ़ पराक्रमी शूरवीर दोनों ओर वाद्यध्वनि एवं जयघोष से शोभित होता है एवं वह तथा उसके आश्रित शत्रुओं से अभिभूत नहीं होते। इसी प्रकार बहुश्रुत भी दिन रात स्वाध्याय ध्वनि एवं स्व-पर पक्ष की जयनाद से शोभित होते हैं तथा वे और उनके आश्रित वाद में अन्यतीर्थियों द्वारा पराजित नहीं होते।

(१८) जैसे हथिनियों से घिरा हुआ, साठ वर्ष की उम्र का हाथी महाबलवान् होता है एवं मदवाले भी दूसरे हाथी उसे हरा नहीं

सकते। इसी प्रकार औत्पत्तिकी आदि बुद्धि एवं विविध विद्याओं से युक्त स्थिरबुद्धि वाले बहुश्रुत भी ज्ञान की अपेक्षा महाबलशाली होते हैं एवं विवाद में सदा विपक्षी पर विजय प्राप्त करते हैं।

(१९) जैसे तीखे सींग और बड़े स्कन्ध वाला वृषभ यूथ का अधिपति होकर शोभा पाता है। उसी प्रकार स्वपरसिद्धान्त रूप सींगों से शोभित एवं गच्छ के महान् उत्तरदायित्व को निभाने में समर्थ बहुश्रुत भी साधु समुदाय के आचार्य होकर शोभा पाते हैं।

(२०) जिस प्रकार तीक्ष्ण दाढ़ों वाला, दुष्प्रधर्ष (किसी से न हारने वाला) प्रचण्ड शेर सभी जानवरों में प्रधान होता है। इसी प्रकार नैगमादि नय रूप दाढ़ों वाले प्रखर प्रतिभाशील बहुश्रुत भी अपने गुणों के कारण अन्यतीर्थियों में प्रधान होते हैं।

(२१) जैसे शंख, चक्र तथा गदा से सुशोभित अप्रतिहत बल वाले वासुदेव महान् योद्धा होते हैं इसी प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्र से सुशोभित बहुश्रुत भी कर्म शत्रुओं के लिए महा योद्धा रूप हैं।

(२२) जैसे हाथी, घोड़े, रथ और पदाति रूप चतुरंगिनी सेना द्वारा शत्रुदल का नाश करने वाला, ऋद्धि सम्पन्न चक्रवर्ती चौदह रत्नों का स्वामी होता है इसी तरह दान शील तप और भाव रूप धर्म द्वारा कर्म शत्रु का नाश करने वाले, आमर्शौषधि आदि लब्धि-सम्पन्न बहुश्रुत भी चौदह पूर्वों के धारक होकर शोभा पाते हैं।

(२३) जैसे इन्द्र के हजार नेत्र (५०० सामानिक देवों की अपेक्षा से) होते हैं, उसके हाथ में वज्र होता है, वह पुर अर्थात् दैत्यनगरों का नाश करने वाला होता है तथा देवताओं का स्वामी होता है। इसी प्रकार बहुश्रुत भी विशिष्ट श्रुतज्ञान रूप सहस्र नेत्र वाले होते हैं, उनके हाथ में वज्र का शुभ चिह्न होता है, वे तप द्वारा पुर अर्थात् शरीर को कृश करते हैं एवं उत्कृष्ट तप संयम के कारण इन्द्र की तरह देवों के वन्दनीय होते हैं।

(२४) जैसे तिमिर को नाश करने वाला उगता हुआ सूर्य

तेज से अत्यन्त दीप्त होता है उसी प्रकार अज्ञान तिमिर का नाश करने वाले, विशुद्ध विशुद्धतर अध्यवसायों द्वारा संयमस्थानों में बढ़ते हुए बहुश्रुत भी तप के तेज से अतिशय दीप्त होते हैं।

(२५) जैसे ग्रह नक्षत्रों से घिरा हुआ तारापति चन्द्र पूर्णिमा के दिन पूर्ण कला वाला होता है वैसे ही शिष्यों से घिरे हुए, साधु समुदाय के अधिपति बहुश्रुत भी सभी कलाओं से पूर्ण होते हैं।

(२६) जैसे समृद्ध वृत्ति वाले लोगों के यहाँ विविध धान्यों से भरे हुए कोठे होते हैं तथा वे चूहे चोर आदि से सुरक्षित होते हैं इसी प्रकार बहुश्रुत भी अङ्ग उपाङ्ग प्रकीर्णक आदि विविध श्रुत से पूर्ण होते हैं एवं प्रवचन के आधार रूप होने से सुरक्षित होते हैं।

(२७) जैसे वृक्षों में अनादृत देव से अधिष्ठित सुदर्शन नाम वाला जम्बूवृक्ष प्रधान है उसी प्रकार देवों से पूजित बहुश्रुत भी सभी साधुओं में प्रधान होते हैं।

(२८) नीलवान् पर्वत से निकल कर सागर में मिलने वाली सीता नाम की नदी जिस तरह सभी नदियों में प्रधान है इसी प्रकार उच्चकुल में जन्म लेकर सिद्धि गति को प्राप्त करने वाले बहुश्रुत भी सभी साधुओं में प्रधान होते हैं।

(२९) विविध औषधियों से प्रज्वलित सर्वोच्च सुमेरु जैसे सभी पर्वतों में श्रेष्ठ है। इसी प्रकार आमर्शौषधि आदि लब्धिसम्पन्न बहुश्रुत भी श्रुतमाहात्म्य से स्थिर एवं सभी साधुओं में श्रेष्ठ होते हैं।

(३०) जैसे अक्षय जल वाला स्वयंभूरमण समुद्र विविध रत्नों से पूर्ण होता है उसी प्रकार अक्षय क्षायिक सम्यग्दर्शन वाले बहुश्रुत विविध अतिशय रूपी रत्नों से अलंकृत होते हैं।

(३१) विपुल श्रुतज्ञान से पूर्ण, छः काय की रक्षा करने वाले बहुश्रुत समुद्र के समान गम्भीर होते हैं तथा वाद में अजेय होते हैं। वे परिषह उपसर्गों से उद्विग्न नहीं होते, न शब्दादि विषय ही

उन्हें अभिभूत कर सकते हैं। दिव्य गुणों से सम्पन्न इन महात्माओं ने सभी कर्मों का क्षय कर उत्तम सिद्धि गति को प्राप्त किया है, करते हैं, एवं भविष्य में भी करेंगे।

(३२) अतएव उत्तम अर्थ की गवेषणा करने वाला भिक्षु अध्ययन, श्रवण चिन्तन द्वारा श्रुतज्ञान का आश्रय ग्रहण करे ताकि वह स्वयं सिद्धि गति को प्राप्त करे एवं दूसरों को भी करा सके।

(उत्तराध्ययन सूत्र ग्यारहवां अध्ययन)

९७४–सूयगडांग सूत्र द्वितीय अध्ययन के द्वितीय उद्देशे की बत्तीस गाथाएं

(१) जैसे सर्प अपनी काँचली को छोड़ देता है इसी प्रकार साधु भी कषाय रहित होकर कर्म रज को आत्मा से पृथक् कर देता है। कषाय के त्याग से कर्म दूर होते हैं यह जानकर विद्वान् साधु गोत्र आदि किसी का अभिमान नहीं करता एवं पर निन्दा को भी पापकारिणी मानता है।

(२) जो अविवेकी पुरुष दूसरे की अवज्ञा करता है वह इस पाप के फल स्वरूप चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। इसीलिये पर निन्दा को पाप का कारण कहा गया है और यही जानकर विवेकी साधु किसी प्रकार का मद नहीं करता।

(३) चाहे कोई चक्रवर्ती हो या उसके दास का भी दास हो किन्तु मुनिपद स्वीकार करने के बाद उन्हें लज्जा एवं अभिमान का त्याग कर समभाव के साथ संयम का पालन करना चाहिए। अर्थात् पूर्व दीक्षित दास को भी पश्चात् दीक्षित चक्रवर्ती वन्दन नमस्कार करे।

(४) सम्यक् प्रकार से शुद्ध, शुभ अध्यवसायों वाले, मुक्तिगमन योग्य विवेकी साधु को चाहिये कि वह समभाव धारण कर सामायिकादि संयम स्थानों के पालन में उद्यत रहे एवं जीवनपर्यन्त ज्ञानादि में अपनी आत्मा को लगाये रखे।

(५) साधु को मोक्ष रूप अपने ध्येय का ख्याल कर तथा ऊँच नीच अवस्था एवं गति रूप भूत एवं भावी धर्म का विचार कर लज्जा और मद का त्याग करना चाहिये। यदि कोई कठोर शब्द कहे या दण्ड चाबुक से पीटे अथवा मारने भी लगे तो भी साधु को समभाव रखकर शास्त्रोक्त संयम का पालन करना चाहिये।

(६) बुद्धिमान् साधु सदा कपायों पर विजय प्राप्त करे एवं अहिंसादि रूप समता धर्म का उपदेश करे। वह कभी संयम की विराधना न करे एवं क्रोध और मान का त्याग करे।

(७) साधु को चाहिये कि बहुत से लोगों से नमस्कार करने योग्य धर्म में सदा सावधान रहे और धन धान्य स्त्री पुत्रादि विपयक ममत्व को दूर करे। स्वच्छ जल से परिपूर्ण जलाशय की तरह कलुपभाव रहित होकर तीर्थङ्करोपदिष्ट धर्म को प्रकाशित करे।

(८) संसार में बहुत से जीव पृथ्वीकाय आदि में सूक्ष्म बादर पर्याप्त अपर्याप्त आदि भेद से पृथक् पृथक् रहे हुए हैं। वे सभी सुख चाहते हैं और दुःख से द्वेष करते हैं। यह जानकर संयम में उपस्थित पण्डित साधु को चाहिये कि वह उनकी हिंसा से निवृत्त हो।

(९) जो पुरुप श्रुत चारित्र रूप धर्म का पारगामी है और आरम्भ के अन्त में स्थित है अर्थात् आरम्भ का त्याग किये हुए है वही मुनि है। यह मेरा है, मैं इसका हूँ इस प्रकार धन धान्य तथा स्वजनादि में आसक्ति रखने वाले इनके नाश या मृत्यु होने पर शोक करते हैं। तिस पर भी वे अपने परिग्रह को (ममत्व के विपयभूत पदार्थों को) वापिस नहीं पा सकते।

(१०) धन धान्य स्वजनादि का परिग्रह इस लोक और परलोक में दुःखकारी है। यह विनश्वर स्वभाव वाला है इसलिये कष्ट से प्राप्त करने के बाद भी नष्ट हो जाता है। यह सभी जानते हुए ऐसा कौन पुरुप होगा जो गृहवास में रहना पसन्द करेगा?

(११) राजा वगैरह साधु को नमस्कार करते हैं, वस्त्रादि द्वारा उनकी पूजा करते हैं यह साधु के लिये महा प्रलोभन रूप है। यह सूक्ष्म शल्य है, इसे आत्मा से अलग करना अति कठिन है। यह जानकर विद्वान् साधु को संस्तव परिचय का त्याग करना चाहिये।

(१२) विहार, स्थान (कायोत्सर्ग), आसन और शय्या इन सभी अवस्थाओं में साधु को रागद्वेष का त्याग कर धर्मध्यान में दत्त-चित्त रहना चाहिये। उसे यथाशक्ति तप करना चाहिये एवं मन और वचन पर नियन्त्रण रखना चाहिये।

(१३) शयनादि निमित्त सूने घर में रहा हुआ साधु (जिनकल्पी) उस घर का दरवाज़ा न बन्द करे न खोले। धर्म या मार्ग के विषय में वहाँ या अन्यत्र किसी के पूछने पर साधु सावद्य वचन न कहे। वहाँ पर तृणों का छेदन न करे और कचरा न निकाले। तृणों की शय्या भी साधु को न बिछाना चाहिये।

(१४) जहाँ सूर्य अस्त हो वहीं पर साधु को परीषह उपसर्गों की परवाह किये बिना ठहर जाना चाहिये। वहाँ शयन आसन आदि अनुकूल हों अथवा प्रतिकूल हों साधु को रागद्वेष रहित होकर उनका सेवन करना चाहिये। सूने घर में डांस मच्छर हों, राक्षस आदि भयानक प्राणी हों या साँप हों तो भी साधु को वहीं रहना चाहिये और उनसे होने वाले परीषह उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहन करना चाहिये।

(१५) शून्य घर या श्मशान आदि में रहे हुए महामुनि को तिर्यञ्च मनुष्य और देव सम्बन्धी सभी उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिये। भयजनित रोमाञ्च भी उसके न होना चाहिये।

(१६) परीषह उपसर्गों से पीड़ित हुए साधु को न जीने की इच्छा होनी चाहिये, न उसे पूजा की ही कामना होनी चाहिये। जीवन और पूजा से निरपेक्ष हो सूने घर में रहने वाले साधु के लिये राक्षस

पिशाच आदि के भीषण उपसर्गों का सहना भी आसान हो जाता है।

(१७) जिसकी आत्मा अतिशय रूप से ज्ञानादि गुणों में स्थापित है, जो स्वपर का उपकारक है, जो स्त्री पशु नपुँसक रहित एकान्त उपाश्रय में रहता है, जो परीषह उपसर्गों से कभी भय नहीं खाता, उसके तीर्थङ्कर भगवान् ने सामायिक चारित्र कहा है।

(१८) उष्ण पानी को विना ठण्डा किये पीने वाले, श्रुत चारित्र धर्म में स्थित, असंयम से घृणा करने वाले मुनि का भी राजाओं के साथ संसर्ग रखना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसे क्रियाशील मुनि को भी इससे असमाधि होना संभव है।

(१९) जो साधु कलह करता है और प्रकट दारुण वचन कहता है उसका मोक्ष या संयम नष्ट हो जाता है। इसलिये विवेकशील साधु को कलह न करना हाहिये।

(२०) जो साधु अप्रासुक पानी से घृणा करता है, निदान नहीं करता है, कर्म बँधाने वाले कार्यों से परहेज करता है तथा गृहस्थ के पात्र में नहीं जीमता है उसके सर्वज्ञदेव ने सामायिक चारित्र कहा है।

(२१) यह जीवन टूट जाने पर पुनः नहीं जुड़ सकता, ऐसा विज्ञ पुरुष कहते हैं। फिर अज्ञानी जीव पाप करते हुए लज्जित नहीं होता। बुरे कार्यों में रत रहने वाले अज्ञानी जीव पापी समझे जाते हैं। यही जानकर वास्तविकता का जानकार मुनि सदनुष्ठानों का आचरण करता हुआ भी अभिमान नहीं करता।

(२२) अधिक माया करने वाले, मोहाच्छादित अज्ञानी जीव अपने ही अभिप्राय से नरकादि दुर्गतियों में जाते हैं। यह जानकर साधु पुरुष माया का त्याग कर शुद्ध भाव से संयम में लीन रहते हैं और मन वचन काया से अनुकूल प्रतिकूल परीषहों को सहते हैं।

(२३) जुए में किसी से हार न मानने वाला कुशल जुआरी पाशों से खेलते समय सदा कृत नामक चौथे स्थान को ही ग्रहण

करता है। वह कलि (प्रथम स्थान) को कभी ग्रहण नहीं करता और इसी तरह दूसरे तीसरे स्थान को ग्रहण करके भी नहीं खेलता।

(२४) जैसे कुशल जुआरी के लिये चौथा स्थान सर्व श्रेष्ठ है वैसे ही लोक में विश्व रक्षक सर्वज्ञ भगवान् ने जो धर्म कहा है वह सर्वोत्तम है। इसको हितकारी और उत्तम समझकर पण्डित मुनि को इसे ठीक उसी प्रकार ग्रहण करना चाहिये जैसे कि जुआरी अन्य स्थानों को छोड़ कर चौथे स्थान को ही ग्रहण करता है।

(२५) इन्द्रियों के विषय शब्दादि मनुष्यों के लिये दुर्जेय है ऐसा मैंने सुना है। जो इनसे विपरीत हैं एवं संयम में सावधान हैं वे ही भगवान् ऋषभदेव एवं महावीर स्वामी के धर्मानुयायी हैं।

(२६) अतिशय ज्ञान वाले महर्षि ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी से कहे गये इस उपरोक्त (इन्द्रिय विषयों से निवृत्ति रूप) धर्म का जो आचरण करते हैं वे ही संयम में उत्थित एवं समुत्थित हैं एवं परस्पर एक दूसरे को धर्म में प्रवृत्त करते हैं।

(२७) साधु को चाहिये कि पूर्वभुक्त शब्दादि का स्मरण न करे तथा अष्टविध कर्मों का नाश करने के लिये योग्य अनुष्ठान करता रहे। मन को मलीन करने वाले शब्दादि विषयों की ओर जिनका झुकाव नहीं है वे ही आत्मस्थित समाधि का अनुभव करते हैं।

(२८) साधु को चाहिये कि वह स्त्री आदि सम्बन्धी विकथा न करे एवं प्रश्न का फल बता कर अपना निर्वाह न करे। उसे वर्षा, धन-प्राप्ति आदि के उपाय भी न बताने चाहिये। श्रुतचारित्ररूप जिन-भाषित सर्वोत्तम धर्म को जान कर उसे संयम क्रियाओं का अभ्यास करना चाहिये एवं किसी भी वस्तु पर ममता न रखनी चाहिये।

(२९) मुनि को चाहिये कि वह क्रोध, मान, माया लोभ का सेवन न करे। जिन महापुरुषों ने इनका त्याग किया है एवं सम्यक् रूप से संयम का आचरण किया है वे ही धर्म की ओर उन्मुख हैं।

(३०) आत्महित दुर्लभ है इसलिये साधु को स्नेह का त्याग कर, ज्ञानादि सहित होकर आश्रव का निरोध करते हुए विचरना चाहिये। श्रुत चारित्र रूप धर्म ही उसका उद्देश्य होना चाहिये। जितेन्द्रिय होकर उसे तप में अपनी शक्ति लगा देनी चाहिये।

(३१) समस्त जगत् को जानने वाले ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जो सामायिक आदि का स्वरूप बतलाया है उसे इस आत्मा ने निश्चय ही पहले नहीं सुना है, यदि सुना भी हो तो उसका सम्यक् प्रकार से आचरण नहीं किया है।

(३२) आत्महित अति दुर्लभ है, मनुष्य जन्म, आर्यक्षेत्र आदि अनुकूल अवसर है यह जानकर और उत्तम जिनधर्म को जानकर ज्ञानादि सहित अनेक पुरुष गुरु की इच्छानुसार उनके बताये मार्ग पर चल कर पाप से विरत हुए हैं एवं संसार से तिर गये हैं ऐसा मैं कहता हूँ। (सूयगडांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध द्वितीय अध्ययन द्वितीय उद्देशा)

तेतीसवाँ बोल संग्रह

९७५–तेतीस आशातनाएं

'आय' का अर्थ है सम्यग्दर्शनादि का लाभ और 'शातना' का अर्थ है खण्डना। सम्यग्दर्शनादि का घात करने वाली अविनय की क्रियाओं को आशातना कहा जाता है। 'एवं धम्मस्स विणओ मूलं' कह कर शास्त्रकारों ने विनय का महत्त्व बतलाते हुए उसकी अनिवार्य आवश्यकता भी बतला दी है। धर्म का प्रासाद विनय की नींव पर खड़ा होता है। इसलिए विनय रहित क्रियाओं को आशातना (सम्यग्दर्शनादि का नाश करने वाली) कहना ठीक ही है। ये आशातनाएं तेतीस प्रकार की हैं। छोटी दीक्षा वाले साधु (शैक्ष) को रत्नाधिक (दीक्षा में बड़े) के साथ रहते हुए इनका

परिहार करना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि उत्सर्ग मार्ग के अनुसार ये क्रियाएं वर्जनीय हैं परन्तु विशेष परिस्थितियों में अपवाद रूप से इनमें से किसी का सेवन करना भी आवश्यक हो सकता है। उस समय द्रव्य क्षेत्र काल भाव को देख कर रत्नाधिक की आज्ञा से उनका सेवन करना सदोष नहीं कहा जा सकता। द्रव्य रूप से इनका सेवन करते हुए भी हृदय में रत्नाधिक के प्रति बहुमान रखना ही चाहिये, उसमें किसी प्रकार कमी न होनी चाहिये। हृदय में विनय बहुमान न रखते हुए इन आशातनाओं का परिहार करना केवल द्रव्य विनय है। व्यवहार शुद्धि के सिवाय उसकी विशेष सार्थकता नहीं है। रत्नाधिक के प्रति विनय बहुमान रखकर इन आशातनाओं का परिहार करने से विनय और धर्म की यथार्थ आराधना होती है और मुमुक्षु अपने ध्येय के अधिकाधिक समीप पहुँचता है। तेतीस आशातनाओं में यतना करने अर्थात् उनका परिहार करने का फल उत्तराध्ययन सूत्र के ३१ वें अध्ययन में 'से न अच्छइ मण्डले' (अर्थात् वह संसार में भ्रमण नहीं करता, मुक्त हो जाता है) बतलाया है। रत्नाधिक के लिये हृदय में विनय बहुमान रखते हुए इन आशातनाओं का परिहार करने वाला ही इस फल को प्राप्त करता है। तेतीस आशातनाएं इस प्रकार हैं:—

(१) मार्ग में रत्नाधिक के आगे चलने से आशातना होती है।

(२) मार्ग में रत्नाधिक के बराबर चलने से आशातना होती है।

(३) मार्ग में रत्नाधिक के पीछे भी बहुत पास पास चलने से आशातना होती है।

(४–६) रत्नाधिक के आगे, बराबरी में तथा पीछे अति समीप खड़े होने से आशातना होती है।

(७–९) रत्नाधिक के आगे, बराबरी में तथा पीछे अति समीप बैठने से आशातना होती है।

(१०) रत्नाधिक और शिष्य विचार भूमि (जंगल) गये हों वहाँ रत्नाधिक से पूर्व शिष्य आचमन-शौच करे तो आशातना होती है।

(११) बाहर से उपाश्रय में लौटने पर शिष्य रत्नाधिक से पहले ईर्यापथ सम्बन्धी आलोचना करे तो आशातना होती है।

(१२) रात्रि में रत्नाधिक के "कौन जागता है?" पूछने पर शिष्य जागते हुए भी उसका उत्तर न दे और उनके वचन सुने अनसुने कर दे तो आशातना होती है।

(१३) जिस व्यक्ति से रत्नाधिक को पहले बातचीत करनी चाहिये उससे शिष्य पहले बातचीत करले तो आशानता होती है।

(१४) अशनादि की आलोचना पहले दूसरे के आगे करके बाद में रत्नाधिक के आगे करे तो आशातना होती है।

(१५) अशनादि पहले दूसरे छोटे साधुओं को दिखला कर बाद में रत्नाधिक को दिखलावे तो आशातना होती है।

(१६) अशनादि के लिये पहले दूसरे साधुओं को निमन्त्रित कर पीछे रत्नाधिक को निमन्त्रित करे तो आशातना होती है।

(१७) रत्नाधिक को बिना पूछे दूसरे साधु को उसकी इच्छानुसार प्रचुर आहार देने से आशातना होती है।

(१८) रत्नाधिक के साथ आहार करते समय यदि शिष्य इच्छानुकूल वर्ण गन्धादि युक्त, सरस, मनोज्ञ, स्निग्ध या रूखा आहार जल्दी जल्दी प्रचुर परिमाण में खाता है तो आशातना होती है।

(१९) प्रयोजन विशेष से रत्नाधिक द्वारा बुलाये जाने पर यदि शिष्य उनके वचन सुने अनसुने कर देता है तो आशातना होती है।

(२०) रत्नाधिक के प्रति या उनके समक्ष कठोर या मर्यादा से अधिक बोलने से आशातना होती है।

(२१) रत्नाधिक से बुलाये जाने पर शिष्य को उत्तर में 'मत्थएणं वंदामि' कहना चाहिये। ऐसा न कह कर 'क्या कहते हो'

शब्दों में उत्तर देने से आशातना होती है।

(२२) रत्नाधिक के बुलाने पर शिष्य को उनके समीप आकर उनकी बात सुननी चाहिये और विनय पूर्वक उत्तर देना चाहिये, ऐसा न कर अपने स्थान से ही उनकी बात सुनने और वहीं से उत्तर देने से आशातना होती है।

(२३) यदि शिष्य रत्नाधिक के लिये तूंकारे का प्रयोग करे, उनके प्रेरणा करने पर 'तूँ प्रेरणा करने वाला कौन है ?' ऐसे असभ्यतापूर्ण वचन कहे तो आशातना होती है।

(२४) रत्नाधिक यदि शिष्य को किसी कार्य के लिये प्रेरणा करें तो शिष्य को उनके वचन शिरोधार्य करना चाहिये। ऐसा न करते हुए यदि शिष्य उन वचनों को उन्हीं के प्रति दोहराते हुए उनकी अवहेलना करता है तो आशातना होती है। जैसे-'हे आर्य ! ग्लान साधुओं की सेवा क्यों नहीं करते ? तुम आलसी हो' रत्नाधिक के यह कहने पर शिष्य इन्हीं शब्दों को दोहराते हुए उन्हें कहता है-तुम स्वयं ग्लान साधुओं की सेवा क्यों नहीं करते ? तुम खुद आलसी हो।'

(२५) रत्नाधिक धर्मकथा कह रहे हों उस समय यदि शिष्य दूसरे संकल्प विकल्प करता रहे, कथा में अन्यमनस्क रहे और कथा की सराहना न करे तो आशातना होती है।

(२६) रत्नाधिक धर्म कथा कह रहे हों उस समय शिष्य के, 'आप भूल रहे हैं, आपको याद नहीं, यह बात इस तरह नहीं है' इस प्रकार कहने से आशातना होती है।

(२७) रत्नाधिक धर्मकथा कह रहे हों उस समय शिष्य किसी उपाय से कथाभंग करे और स्वयं कथा कहे तो आशातना होती है।

(२८) रत्नाधिक महाराज धर्मकथा कह रहे हों उस समय यदि शिष्य 'अब भिक्षा का समय हो गया है, कथा समाप्त होनी चाहिये'

इत्यादि कह कर परिषद् का भेदन करे तो आशातना होती है।

(२९) सभा उठी न हो, लोग गये न हों, जनता बिखरी न हो कि शिष्य रत्नाधिक की लघुता और अपना गौरव दिखाने के लिये उसी सभा के आगे रत्नाधिक की कथा को दो, तीन या चार बार कहता है और कहता है कि इस सूत्र के व्याख्यान के ये भी प्रकार हैं। ऐसा करने से आशातना होती है।

(३०) रत्नाधिक के शय्या संस्तारक को पैर से छूकर उनसे क्षमा माँगे बिना ही यदि शिष्य चला जाय तो आशातना होती है।

(३१) यदि शिष्य रत्नाधिक के शय्या संस्तारक पर खड़ा रहे, बैठे या शयन करे तो आशातना होती है।

(३२) शिष्य के रत्नाधिक के आसन से ऊँचे आसन पर खड़े होने, बैठने और सोने से आशातना होती है।

(३३) शिष्य के रत्नाधिक के बराबर आसन पर खड़े होने, बैठने और सोने से आशातना होती है

हरिभद्रीयावश्यक में तेतीस आशातनाएं संग्रहणीकार ने तीन गाथाओं में दी हैं। वे गाथाएं इस प्रकार हैं—

३ ६ ९ १०
पुरओ पक्खासण्णे गंता चिट्ठणनिसीयणायमणे।
११ १२ १३ १४
आलोयणपडिसुणणा पुव्वालवणे य आलोए॥
१५ १६ १७ १८ १९
तह उवदंस णिमंतण खद्धाईयाण तह अपडिसुणणे।
२० २१ २२ २३ २४ २५
खद्धंतिय तत्थगए किं तुम तज्जाइ णो सुमणे॥
२६ २७ २८ २९
णो सरसि कहं छेत्ता परिसं भित्ता अणुट्ठियाइ कहे।

३० ३१ ३२ ३३
संथार पायघट्टण चिट्ठे उच्चासणाईसु ॥

नोट—उक्त गाथाओं में जिस क्रम से आशातनाएं दी गई हैं वही क्रम यहाँ भी रखा गया है। समवायांग सूत्र में एक से वीस तक की आशातनाएं इसी क्रम से हैं। इक्कीसवीं आशाना अन्त में दी गई है और शेष आशातनाओं का क्रम यही है। फलतः बाईस से तेतीस तक की आशातनाएं वहाँ क्रमशः इक्कीस से बत्तीस तक दी गई हैं और इक्कीसवीं आशातना वहाँ तेतीसवीं आशातना है। दशाश्रुतस्कन्धदशा में भी तेतीस आशातनाएं हैं। वहाँ बत्तीसवीं और तेतीसवीं आशातना एक गिनी है और इसलिये वहाँ एक आशातना अधिक है। वह यह है-रत्नाधिक के कथा कहते हुए शिष्य यह कहे कि 'अमुक पदार्थ का स्वरूप इस प्रकार है' तो आशातना होती है। इसके सिवाय दो चार आशातनाएं आगे पीछे हैं, इसलिये क्रम में भी अन्तर हो गया है।

(समवायांग ३३) (दशाश्रुतस्कन्ध तीसरी दशा) (हरिभद्रीयावश्यकप्रतिक्रमणाध्ययन)

९७६–अनन्तरागत सिद्धों के अल्पबहुत्व के तेतीस बोल

चरम भव से पूर्ववर्ती जिस भव में से आकर जीव सिद्ध होते हैं वे वहाँ से आने के कारण उस भव के अनन्तरागत सिद्ध कहलाते हैं। इस अल्पबहुत्व में चरम भव के अव्यवहित पूर्ववर्ती कौन से भवों से मनुष्यभव में आकर किस प्रकार कम ज्यादा संख्या में जीव सिद्ध होते हैं यह बतलाया गया है। अल्पबहुत्व इस प्रकार है—

(१) चौथी नरक के अनन्तरागत सिद्ध सब से थोड़े हैं (२) इससे तीसरी नरक के अनन्तरागत सिद्ध संख्यात गुणा अधिक हैं (३) दूसरी नरक के अनन्तरागत सिद्ध इन से भी संख्यात

गुणा अधिक हैं। (४) पर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (५) पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (६) पर्याप्त बादर अप्काय के अनन्तरागत सिद्ध इन से भी संख्यात गुणा अधिक हैं (७) भवनपति की देवियों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (८) भवनपति देवों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (९) व्यन्तर देवियों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं। (१०) व्यन्तरदेवों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (११) ज्योतिषी देवियों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (१२) ज्योतिषी देवों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (१३) मनुष्य स्त्रियों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (१४) मनुष्यों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (१५) पहली नरक के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (१६) तिर्यञ्च योनि की स्त्रियों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (१७) तिर्यञ्च योनि वालों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (१८) अनुत्तरोपपातिक देवों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (१९) ग्रैवेयक देवों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (२०) अच्युत देवलोक के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (२१) आरण देवलोक के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (२२) प्राणत देवलोक में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (२३) आणत देवलोक में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (२४) सहस्रार देवलोक में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (२५) महाशुक्र

देवलोक में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (२६) लान्तक देवलोक में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (२७) ब्रह्मदेवलोक में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (२८) माहेन्द्र देवलोक में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (२६) सनत्कुमार देवलोक में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (३०) ईशान देवलोक की देवियों में के अनन्तरागत सिद्ध उनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (३१) सौधर्म देवलोक की देवियों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (३२) ईशान देवलोक की देवियों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं (३३) सौधर्म देवलोक के देवों में के अनन्तरागत सिद्ध इनसे भी संख्यात गुणा अधिक हैं।

(नन्दी सूत्र टीका परम्परासिद्ध केवलज्ञानाधिकार)

चौतीसवाँ बोल संग्रह

६७७–तीर्थंकर देव के चौतीस अतिशय

(१) तीर्थङ्कर देव के मस्तक और दाढ़ी मूँछ के बाल बढ़ते नहीं हैं। उनके शरीर के रोम और नख सदा अवस्थित रहते हैं।

(२) उनका शरीर स्वस्थ एवं निर्मल रहता है।

(३) शरीर में रक्त मांस गाय के दूध की तरह श्वेत होते हैं।

(४) उनके श्वासोच्छ्वास में पद्म एवं नीलकमल की अथवा पद्मक तथा उत्पलकुष्ट (गन्धद्रव्यविशेष) की सुगन्ध आती है।

(५) उनका आहार और निहार (शौच क्रिया) प्रच्छन्न होता है। चर्मचक्षु वालों को दिखाई नहीं देता।

(६) तीर्थङ्कर देव के आगे आकाश में धर्मचक्र रहता है।

(७) उनके ऊपर तीन छत्र रहते हैं।

(८) उनके दोनों ओर तेजोमय (प्रकाशमय) श्रेष्ठ चँवर रहते हैं।

(६) भगवान् के लिये आकाश के समान स्वच्छ, स्फटिक मणि का बना हुआ पादपीठ वाला सिंहासन होता है।

(१०) तीर्थङ्कर देव के आगे आकाश में बहुत ऊँचा हजारों छोटी छोटी पताकाओं से परिमण्डित इन्द्रध्वज चलता है।

(११) जहाँ भगवान् ठहरते हैं अथवा बैठते हैं वहाँ पर उसी समय पत्र पुष्प और पल्लव से शोभित, छत्र, ध्वज, घंटा और पताका सहित अशोक वृक्ष प्रगट होता है।

(१२) भगवान् के कुछ पीछे मस्तक के पास अतिभास्वर (देदीप्यमान) भामण्डल रहता है।

(१३) भगवान् जहाँ विचरते हैं वहाँ का भूभाग बहुत समतल एवं रमणीय हो जाता है।

(१४) भगवान् जहाँ विचरते हैं वहाँ काँटे अधोमुख हो जाते हैं।

(१५) भगवान् जहाँ विचरते हैं वहाँ ऋतुएं सुखस्पर्श वाली यानी अनुकूल हो जाती हैं।

(१६) भगवान् जहाँ विचरते हैं वहाँ संवर्तक वायु द्वारा एक योजन पर्यन्त क्षेत्र चारों ओर से शुद्ध साफ हो जाता है।

(१७) भगवान् जहाँ विचरते हैं वहाँ मेघ आवश्यकतानुसार बरस कर आकाश एवं पृथ्वी में रही हुई रज को शान्त कर देते हैं।

(१८) भगवान् जहाँ विचरते हैं वहाँ जानुप्रमाण देवकृत पुष्प-वृष्टि होती है। फूलों के डंठल सदा नीचे की ओर रहते हैं।

(१६) भगवान् जहाँ विचरते हैं वहाँ अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध नहीं रहते।

(२०) भगवान् जहाँ विचरते हैं वहाँ मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध प्रगट होते हैं।

(२१) देशना देते समय भगवान् का स्वर अतिशय हृदयस्पर्शी

होता है और एक योजन तक सुनाई देता है।

(२२) तीर्थङ्कर देव अर्द्धमागधी भाषा में धर्मोपदेश करते हैं।

(२३) उनके मुख से निकली हुई अर्द्धमागधी भाषा में यह विशेषता होती है कि आर्य अनार्य सभी मनुष्य एवं मृग, पशु, पक्षी और सरीसृप जाति के तिर्यञ्च प्राणी उसे अपनी भाषा समझते हैं और वह उन्हें हितकारी, सुखकारी एवं कल्याणकारी प्रतीत होती है।

(२४) पहले से ही जिनके वैर बँधा हुआ है ऐसे भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव प्रभु के चरणों में आकर अपना वैर भूल जाते हैं और शान्तचित्त होकर धर्मोपदेश सुनते हैं।

(२५) तीर्थङ्कर के पास आकर अन्यतीर्थी भी उन्हें वन्दना करते हैं।

(२६) तीर्थङ्कर के समीप आते ही अन्यतीर्थी निरुत्तर हो जाते हैं।

जहाँ जहाँ भी तीर्थंकर देव विहार करते हैं वहाँ पर पचीस योजन अर्थात् सौ कोस के अन्दर—

(२७) ईति—चूहे आदि जीवों से धान्यादि का उपद्रव नहीं होता।

(२८) मारी अर्थात् जनसंहारक प्लेग आदि उपद्रव नहीं होते।

(२९) स्वचक्र का भय (स्वराज्य की सेना से उपद्रव) नहीं होता।

(३०) परचक्र का भय (पर राज्य की सेना से उपद्रव) नहीं होता।

(३१) अधिक वर्षा नहीं होती।

(३२) वर्षा का अभाव नहीं होता।

(३३) दुर्भिक्ष—दुष्काल नहीं पड़ता है।

(३४) पूर्वोत्पन्न उत्पात तथा व्याधियाँ भी शान्त हो जाती हैं।

इन चौतीस अतिशयों में से दो से पाँच तक के चार अतिशय तीर्थङ्कर देव के जन्म से ही होते हैं। इकीस से चौतीस तक तथा भामंडल—ये पन्द्रह अतिशय घाती कर्मों के क्षय होने से प्रगट होते हैं। शेष अतिशय देवकृत होते हैं।

(समवायांग सूत्र ३४)

९७८—जम्बूद्वीप में तीर्थंकरोत्पत्ति के ३४ क्षेत्र

भरत क्षेत्र, ऐरवत क्षेत्र और महाविदेह के बत्तीस विजय क्षेत्र इन चौतीस क्षेत्रों में तीर्थङ्कर उत्पन्न होते हैं। एक क्षेत्र में एक तीर्थ-ङ्कर उत्पन्न होने से जम्बूद्वीप में एक साथ उत्कृष्ट चौतीस तीर्थङ्कर होते हैं। इन चौतीसों क्षेत्रों में चक्रवर्ती उत्पन्न होते हैं इसलिये ये 'चक्रवर्ती विजय' नाम से प्रसिद्ध हैं।

नोट—३२ विजयों का वर्णन इसी ग्रन्थ में बोल नं० ९७१ में दिया जा चुका है। (समवायांग सूत्र ३४)

पैंतीसवाँ बोल संग्रह

९७९—पैंतीस सत्यवचनातिशय

तीर्थङ्कर देव की वाणी सत्य वचन के अतिशयों से सम्पन्न होती है। सत्य वचन के पैंतीस अतिशय हैं। सूत्रों में संख्या मात्र का उल्लेख मिलता है। टीका में उन अतिशयों के नाम तथा उनकी व्याख्या है। यहाँ टीका के अनुसार ये अतिशय लिखे जाते हैं—

(१) संस्कारवत्त्व—संस्कृत आदि गुणों से युक्त होना अर्थात् वाणी का भाषा और व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष होना।

(२) उदात्तत्व—उदात्त स्वर अर्थात् स्वर का ऊँचा होना।

(३) उपचारोपेतत्व—ग्राम्य दोष से रहित होना।

(४) गम्भीर शब्दता—मेघ की तरह आवाज में गम्भीरता होना।

(५) अनुनादित्व—आवाज का प्रतिध्वनि सहित होना।

(६) दक्षिणत्व—भाषा में सरलता होना।

(७) उपनीतरागत्व—मालव, केशिकादि ग्राम राग से युक्त होना अथवा स्वर में ऐसी विशेषता होना कि श्रोताओं में व्याख्येय विषय के प्रति बहुमान के भाव उत्पन्न हों।

(८) महार्थत्व—अभिधेय अर्थ में महानता एवं परिपुष्टता का होना। थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ कहना।

(९) अव्याहतपौर्वापर्यत्व—वचनों में पूर्वापर विरोध न होना।

(१०) शिष्टत्व—अभिमत सिद्धान्त का कथन करना अथवा वक्ता की शिष्टता सूचित हो ऐसा अर्थ कहना।

(११) असन्दिग्धत्व—अभिमत वस्तु का स्पष्टतापूर्वक कथन करना कि श्रोता के दिल में सन्देह न रहे।

(१२) अपहृतान्योत्तरत्व—वचन का दूषण रहित होना और इसलिये शंका समाधान का मौका न आने देना।

(१३) हृदयग्राहित्व-वाच्य अर्थ को इस ढंग से कहना कि श्रोता का मन आकृष्ट हो एवं वह कठिन विषय भी सहज ही समझ जाय।

(१४) देशकालाव्यतीतत्व—देश काल के अनुरूप अर्थ कहना।

(१५) तत्त्वानुरूपत्व—विवक्षित वस्तु का जो स्वरूप हो उसी के अनुसार उसका व्याख्यान करना।

(१६) अप्रकीर्णप्रसृतत्व—प्रकृत वस्तु का उचित विस्तार के साथ व्याख्यान करना। अथवा असम्बद्ध अर्थ का कथन न करना एवं सम्बद्ध अर्थ का भी अत्यधिक विस्तार न करना।

(१७) अन्योन्यप्रगृहीतत्व—पद और वाक्यों का सापेक्ष होना।

(१८) अभिजातत्व—भूमिकानुसार विषय और वक्ता का होना।

(१९) अति स्निग्ध मधुरत्व—भूखे व्यक्ति को जैसे घी गुड़ आदि परम सुखकारी होते हैं उसी प्रकार स्नेह एवं माधुर्य परिपूर्ण वाणी का श्रोता के लिये परम सुखकारी होना।

(२१) अपरमर्मवेधित्व—दूसरे के मर्म रहस्य का प्रकाश न होना।

(२२) अर्थधर्माभ्यासानपेतत्व—मोक्ष रूप अर्थ एवं श्रुत चारित्र रूप धर्म से सम्बद्ध होना।

(२०) उदारत्व—प्रतिपाद्य अर्थ का महान् होना अथवा शब्द

और अर्थ की विशिष्ट रचना होना।

(२३) परनिन्दात्मोत्कर्ष विप्रयुक्तत्व-दूसरे की निन्दा एवं आत्मप्रशंसा से रहित होना।

(२४) उपगतश्लाघत्व-वचन में उपरोक्त (परनिन्दात्मोत्कर्ष-विप्रयुक्तत्व) गुण होने से वक्ता की श्लाघा-प्रशंसा होना।

(२५) अनपनीतत्व-कारक, काल, वचन, लिंग आदि के विपर्यास रूप दोषों का न होना।

(२६) उत्पादिताविच्छिन्नकुतूहलत्व-श्रोताओं में वक्ता विषयक निरन्तर कुतूहल बने रहना।

(२७) अद्भुतत्व-वचनों के अश्रुतपूर्व होने के कारण श्रोता के दिल में हर्ष रूप विस्मय का बने रहना।

(२८) अनतिविलम्बितत्व - विलम्ब रहित होना अर्थात् धाराप्रवाह से उपदेश देना।

(२९) विभ्रमविक्षेपकिलिकिंचितादि विप्रयुक्तत्व-वक्ता के मन में भ्रान्ति होना विभ्रम है। प्रतिपाद्य विषय में उसका दिल न लगना विक्षेप है। रोष, भय,लोभ आदि भावों के सम्मिश्रण को किलि-किंचित कहते हैं। इनसे तथा मन के अन्य दोषों से रहित होना।

(३०) विचित्रत्व-वर्णनीय वस्तुओं के विविध प्रकार की होने के कारण वाणी में विचित्रता होना।

(३१) आहितविशेषत्व- दूसरे पुरुषों की अपेक्षा वचनों में विशेषता होने के कारण श्रोताओं को विशिष्ट बुद्धि प्राप्त होना।

(३२) साकारत्व-वर्ण, पद और वाक्यों का अलग २ होना।

(३३) सत्त्वपरिगृहीतत्व-भाषा का ओजस्वी प्रभावशाली होना।

(३४) अपरिखेदित्व-उपदेश देते हुए थकावट अनुभव न करना।

(३५) अव्युच्छेदित्व-जो तत्त्व समझना चाहते हैं उसकी सम्यक् प्रकार से सिद्धि न हो तब तक बिना व्यवधान के उसका

व्याख्यान करते रहना।

पहले सात अतिशय शब्द की अपेक्षा हैं। शेष अर्थ की अपेक्षा हैं।
(समवायांग ३५ टीका) (राजप्रश्नीय सूत्र ४ टीका) (औपपातिक सूत्र १० टीका)

९८०—गृहस्थ धर्म के पैंतीस गुण

(१) न्याय सम्पन्न विभव—गृहस्थ के लिये धन प्रधान वस्तु है। इसके अभाव में उसका निर्वाह होना कठिन हो जाता है। फलतः धर्म की आराधना असम्भव नहीं तो दुष्कर तो हो ही जाती है। इसलिये गृहस्थ के लिये धन उपार्जन करना आवश्यक है। परन्तु धनोपार्जन के साधनों के सम्बन्ध में उसे विवेक रखना चाहिये। जैसे तैसे उपायों से धनोपार्जन करना उसके लिये न शोभास्पद है न हितकारी ही। धन कमाने में उसे जाति कुल की मर्यादा के अनुकूल न्यायसंगत उपायों का आश्रय लेना चाहिये।

जो गृहस्थ नौकरी करता है उसे धनप्राप्ति के लिये स्वामिद्रोह के कार्य न करना चाहिये। स्वामी की सौंपी हुई वस्तु को हड़प कर जाना, घूँस खाना, अपने या दूसरे के स्वार्थ के लिये स्वामी को हानि पहुंचाना आदि कार्य स्वामिद्रोह के हैं। राजा या बड़े अधिकारी पुरुषों को खुश करने के लिये जनता पर जुल्म करना भी स्वामिद्रोह ही है। ऐसा करके अस्थायी लाभ भी दिखलाया जा सकता है पर अन्त में उसका नतीजा स्वामी के लिये सुखकारी नहीं हो सकता। यहाँ यह भी याद रखना चाहिये कि स्वामिद्रोह का अर्थ आर्थिक दृष्टि से स्वामी को हानि पहुंचाना ही नहीं है किन्तु धन, धर्म, प्रतिष्ठा, परिवार आदि किसी भी तरह से उसे हानि पहुँचाना स्वामिद्रोह है। इसी प्रकार मित्रों से भी द्रोह न करना चाहिये। जो लोग कम समझते हैं अथवा भरोसे पर कार्य छोड़ देते हैं उनकी कम समझ और उनके विश्वास का दुरुपयोग कर धन कमाना भी सरासर धोखेबाजी है। समाज

एवं धर्म के कार्यों में भी जनता, पंच एवं नेता लोगों के विश्वास पर सब कुछ छोड़ देती है। धन या स्वार्थ के लिये न्याय का गला घोंट देना, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं का पैसा हड़प जाना, पैसे के लिये उनकी प्रतिष्ठा को धक्का लगाना, उनके नाम पर रखे हुए नौकरों से निजी कार्य लेना तथा विश्वास भंग कर जनता को धोखा देना तथा ऐसे ही अन्य कार्यों से गृहस्थ को बचना चाहिये।

राज्य का कस्टम (जकात) न देना, स्टाम्प बचाना तथा ऐसे ही अन्य अनुचित उपायों से पैसा बचाना भी गृहस्थ के लिये अयोग्य है। ये तथा ऐसे ही चोरी आदि के कार्य राज्य के अपराध हैं। गृहस्थ को ऐसे तरीकों से पैसा प्राप्त न करना चाहिये जिनमें राजदण्ड एवं लोकनिन्दा की सम्भावना रहती है। वर कन्या को बेचना, हिंसक धन्धों में धन लगा कर पैसा पैदा करना, नीच कार्य करने वालों को ब्याज पर रुपया देना तथा ऐसी ही अन्य घृणित बातें भी धार्मिक गृहस्थों को न करनी चाहिये।

अन्याय से उपार्जित धन इस लोक और परलोक दोनों में अहित करता है। उस धन का स्वामी इच्छानुसार न उसका उपभोग कर सकता है न किसी को दे ही सकता है। इसके विपरीत वध बंध आदि दुःख भोगने पड़ते हैं। ऐसा धन अधिक काल तक अपने स्वामी के पास नहीं रहता। पहले के मूलधन को भी वह हानि पहुँचाता है। पापानुबन्धी पुण्य के उदय से यदि कोई इन ऐहिक कुपरिणामों से बच भी जाय किन्तु परलोक में तो उसे अपने दुष्कृत्यों का फल भोगना ही पड़ता है। यह धन अपने स्वामी की बुद्धि को दूषित कर देता है और इससे उसकी धर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। इसके विपरीत न्याय प्राप्त धन इस जीवन में एवं आगे भी सुखकारी होता है। धन का स्वामी निःशंक हो इच्छानुसार उसका उपभोग कर सकता है, अपने पराये को दे सकता है, दीन दुखी

और गरीबों का भला कर सकता है एवं सुपात्र को दान दे सकता है। उसकी बुद्धि सदा शुद्ध रहती है और वह धर्म की सम्यग् आराधना कर सकता है। इसलिये धार्मिक गृहस्थ को सदा नीति पूर्वक धन उपार्जन करना चाहिये।

(२) शिष्टाचार प्रशंसक–उत्तम क्रिया वाले ज्ञानवृद्ध पुरुषों की सेवा कर उनसे विशुद्ध शिक्षा पाने वाले पुरुष शिष्ट कहलाते हैं। शिष्ट पुरुष जिसका आचरण करते हैं वही शिष्टाचार कहलाता है। लोकापवाद से डरना, दीन दुखी का उद्धार करना, उपकारी का कृतज्ञ रहना, दाक्षिण्य भाव रखना, निन्दा न करना, सज्जनों की प्रशंसा करना, आपत्ति में न घबराना, संपत्ति में विनम्र बने रहना, मौके पर परिमित भाषण करना, विवाद न करना, कुलाचार का पालन करना, अपव्यय न करना, श्रेष्ठ कार्य का आग्रह रखना, प्रमाद का परिहार करना इत्यादि गुणों का शिष्ट पुरुष सेवन करते हैं। गृहस्थ को उक्त शिष्टाचार की प्रशंसा करनी चाहिये।

(३) समान कुल शील वाले अन्य गोत्रीय के साथ विवाह—गृहस्थ को अपनी जाति में समान आचार वाले भिन्न गोत्रीय व्यक्ति के साथ आयु, स्वास्थ्य, स्वभाव, शिक्षा, धार्मिक विचार प्रतिष्ठा, आर्थिक स्थिति आदि का विचार कर विवाह सम्बन्ध करना चाहिये। हेमचन्द्राचार्य ने विवाह का फल सन्तान प्राप्ति, मानसिक शान्ति, घर की सुव्यवस्था, कुलीनता, आचार विशुद्धि और देवता अतिथि तथा बन्धु का सत्कार बतलाया है। उन्होंने वधू रक्षा के चार उपाय कहे हैं–घर के काम काज में लगाये रखना, उसके पास परिमित पैसा रखना, अधिक स्वतन्त्रता न देना तथा माता के उम्र की सदाचारिणी वयोवृद्ध स्त्रियों के बीच रखना।

(४) पाप भीरु–कई पाप कर्म ऐसे हैं जिनका बुरा नतीजा आत्मा को यहीं पर भोगना पड़ता है जैसे जुआ, परस्त्रीगमन,

चोरी आदि । मद्यपान, मांसभक्षण आदि पाप ऐसे हैं जिनका कुपरिणाम यहाँ नजर नहीं आता। किन्तु सभी पाप कर्मों का फल शास्त्रकारों ने नरकादि की यातना बतलाया है। अतएव गृहस्थ को सभी पाप कर्मों से डरना चाहिये।

(५) प्रसिद्ध देशाचार का पालन--देश के विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा मान्य होकर जो खानपान, वेष आदि का आचार सारे देश में बहुत काल से रूढ़ हो गया है वही प्रसिद्ध देशाचार कहलाता है। गृहस्थ को प्रसिद्ध देशाचार के अनुसार ही अपना व्यवहार रखना चाहिये। उसका अतिक्रमण करने से देशवासियों के साथ विरोध की संभावना रहती है और उससे अकल्याण हो सकता है।

(६) अवर्णवाद त्याग--किसी को नीचा दिखाने के लिय उस के अवगुण कहना या उसकी निन्दा बुराई करना अवर्णवाद है। छोटे बड़े किसी प्राणी के अवर्णवाद का शास्त्रकारों ने निषेध किया है। अवर्णवाद करने वाले यहीं पर अनेक अपायों के भागी होते हैं। राजा, अमात्य आदि अधिकारी व्यक्तियों का तथा बहु-मान्य पुरुषों का अवर्णवाद करने से धन का नाश होता है एवं प्राण भी खतरे में पड़ जाते हैं। परलोक में ऐसा करने वाला नीच गोत्र बाँधता है। स्थानांग सूत्र के पांचवें ठाणे में अरिहन्त, धर्म, संघ आदि के अवर्णवाद का फल दुर्लभबोधि कहा है। अतएव गृहस्थ को अवर्णवाद का त्याग करना चाहिये।

(७) घर कहाँ और कैसा हो ?--रहने के लिए घर बनाने या किराये आदि पर लेने में गृहस्थ को इन बातों का ध्यान रखना चाहिये। घर अधिक द्वार वाला न हो, घर की जगह शुभ हो, शल्यादि दोषों से रहित हो, घर न अधिक खुला हो न गुप्त ही हो और आसपास का पड़ोस अच्छा हो।

घर में अधिक द्वार होने से और घर के चारों ओर से एक दम

खुले होने से यदि पूरा प्रबन्ध न हो तो चोर बदमाशों के उपद्रव की आशंका रहती है। जो घर अधिक गुप्त होता है वह चारों ओर से दूसरे घरों से दब जाता है। उसमें धूप, प्रकाश और हवा के पर्याप्तमात्रा में न आने के कारण वह अस्वास्थ्यकर होता है। उसकी शोभा भी नष्ट हो जाती है। आग आदि के उपद्रव होने पर उसमें आना जाना कठिन हो जाता है। पड़ोस में बुरे आदमियों के रहने से उनका गृहस्थ और उसके घर वालों पर बुरा असर होता है। अतएव गृहस्थ को अच्छा सा पड़ोस देख कर शुभ स्थान वाले सुरक्षित घर में निवास करना चाहिये।

(८) सत्संग-गृहस्थ को इहलोक और परलोक दोनों की दृष्टि से श्रेष्ठ आचार वाले सदाचारी पुरुषों की संगति में रहना चाहिये। उसे जुआरी, व्यभिचारी, विश्वासघाती तथा ऐसे ही अन्य निंद्य कार्य करने वाले नीच पुरुषों के साथ कभी न रहना चाहिये। इन लोगों की संगति गृहस्थ के गुणों का नाश कर देती है तथा और भी अनेक उपद्रव उत्पन्न करती है।

(९) माता पिता की सेवा- माता पिता के महान् उपकार से उऋण होना सम्भव नहीं है। इसलिये प्रतिदिन माता पिता को प्रणाम करना, सभी कार्य उनके आज्ञानुसार करना, उन्हें धर्म मार्ग में लगाना और धार्मिक कार्यों में सभी प्रकार की सुविधाएं प्रस्तुत करना वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओं से उनका सत्कार करना तथा समयानुकूल सब तरह की सेवा कर उन्हें प्रसन्न रखना सन्तान का परम कर्त्तव्य है।

(१०) सोपद्रव स्थान का त्याग करना-जहाँ स्वचक्र या पर-चक्र का उपद्रव उपस्थित हो गया है, जहाँ दुष्काल, महामारी, ईति आदि फैले हुए हैं अथवा जहाँ लोगों के साथ विरोध होगया है ऐसे अस्वस्थ अशान्त वातावरण वाले गाँव नगर आदि गृहस्थों को छोड़

देना चाहिये। वहाँ रहने से धर्म, अर्थ और काम तीनों की हानि होती है और गृहस्थ इहलोक परलोक दोनों से भ्रष्ट हो जाता है।

(११) गर्हित–घृणित(निंदनीय) कार्य में प्रवृत्ति न करना– देश, जाति और कुल की अपेक्षा जो कार्य घृणित हैं गृहस्थों को उन्हें कभी न करना चाहिये। इसी प्रकार गृहस्थ को उन कार्यों में भी प्रवृत्ति न करनी चाहिये जिन्हें लोकोत्तरदृष्टि से शास्त्रकारों ने घृणित कहा है। घृणित कार्य करने वाले के अन्य अच्छे कार्य भी उपहास के विषय बन जाते हैं।

(१२) आय के अनुसार व्यय–कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, नौकरी आदि से जो धन प्राप्त हो उसी के अनुसार गृहस्थ को खर्च रखना चाहिये। यदि आय कम हो तो उसे अपनी आवश्यकताएं कम कर देनी चाहिये पर आय से अधिक कभी खर्च न करना चाहिये। आय से अधिक खर्च करने वाला थोड़े समय में संचित धन भी खर्च कर देता है और फिर वह कठिनाई में पड़ जाता है।

आयव्ययमनालोच्य, यस्तु वैश्रवणायते ।
अचिरेणैव कालेन, सोऽत्र वै श्रमणायते ॥

अर्थ–जो आमद खर्च का विचार किये बिना धनकुबेर बना फिरता है वह थोड़े ही समय में यहीं पर फकीर होता दिखाई देता है।

शास्त्रकारों ने कहा है कि गृहस्थ को आय के चार भाग करना चाहिये। एक भाग संचित धन में जोड़ देना चाहिये, एक को व्यापार में लगाना चाहिये, एक से आश्रितजनों का भरण-पोषण करना चाहिये और एक से अपना निर्वाह तथा धर्म एवं परमार्थ के कार्य करना चाहिये। एक दूसरे आचार्य का कहना है कि आय का आधा हिस्सा अथवा उससे भी अधिक धर्म एवं परमार्थ के कार्यों में लगाना चाहिये एवं आय का शेष अंश अन्य सांसारिक कार्यों में खर्च करना चाहिये। आय का किस प्रकार विभाजन कर

खर्च करना—इसमें आचार्यों में मतभेद है किन्तु यह सभी मानते हैं कि आय के अनुसार ही खर्च करना चाहिये, अधिक नहीं।

(१३) योग्य वेष रखना—गृहस्थ को देश, काल, अवस्था, आर्थिक स्थिति और जाति आदि के अनुरूप वस्त्र भूषण पहनना चाहिये। आर्थिक स्थिति के अनुरूप वेषभूषा न रखने से लोगों में निन्दा होती है। सम्पन्न होने पर साधारण वेष रखने से लोक में तुच्छता प्रगट होती है। आय होते हुए भी जो कृपणतावश पैसा खर्च नहीं करते और मैले कुचैले रहते हैं वे लोक में निन्दा के पात्र बनते हैं। आचार्य ऐसे लोगों को धर्म के अनधिकारी कहते हैं।

(१४) बुद्धि के आठ गुण धारण करना—बुद्धि के आठ गुण ये हैं—(१) शुश्रूषा—शास्त्र सुनने की इच्छा (२) श्रवण—शास्त्र सुनना (३) ग्रहण—शास्त्र के अर्थ को समझना (४) धारण—शास्त्र के अर्थ को याद रखना (५) ऊह—विज्ञात अर्थ के आधार से तर्क करना (६) अपोह—उक्ति और युक्ति से जो बात विरुद्ध हो उसमें दोष देखकर प्रवृत्ति न करना। सामान्य ज्ञान को ऊह और विशेष ज्ञान को अपोह—ऐसा भी इनका अर्थ करते हैं। (७) अर्थविज्ञान—ऊह अपोह द्वारा ज्ञान विषयक मोह, सन्देह और विपर्यास को दूर करना (८) तत्त्वज्ञान—ऊह अपोह और अर्थविज्ञान के बाद, यह ऐसा ही है, इस प्रकार निश्चय पूर्वक ज्ञान करना। गृहस्थ को बुद्धि के ये आठों गुण धारण करना चाहिये। इन गुणों से विकसित बुद्धि वाला व्यक्ति कभी अकल्याण का भागी नहीं होता।

(१५) प्रतिदिन धर्म श्रवण—धर्म अभ्युदय और कल्याण का साधन है। गृहस्थ को सदा अनुराग पूर्वक धर्म सुनना चाहिये। प्रतिदिन धर्म श्रवण करने से मन के खेद और संताप दूर होते हैं, मन शान्त एवं स्थिर होता है और उत्तरोत्तर गुणों की प्राप्ति होती है।

(१६) अजीर्ण होने पर भोजन न करना—अजीर्ण होने अर्थात् खाये हुए आहार के हजम न होने पर भोजन नहीं करना चाहिये।

अजीर्ण पर भोजन करने से अजीर्ण अधिक बढ़ता है। 'अजीर्णे भोजनं विषं' अर्थात् अजीर्ण में भोजन विषरूप है ऐसा नीतिकार कहते हैं। वैद्यकशास्त्र में अजीर्ण को सभी रोगों का मूल कहा है। मल और अपानवायु में दुर्गन्ध होना, टट्टी की गड़बड़ी होना, शरीर का भारी होना, अरुचि होना, खट्टी डकार आना, छाती में जलन होना आदि चिह्नों से अजीर्ण जाना जा सकता है।

(१७) यथासमय भोजन-गृहस्थ को भूख लगने पर यथासमय प्रकृति के अनुकूल पथ्य भोजन करना चाहिये। भोजन करते समय उसे पाचनशक्ति का ख्याल रखना चाहिये। स्वाद के वश अधिक भोजन करना शरीर के लिये हानिकर है। अधिक भोजन करने से वमन विरेचन आदि अनेक उपद्रव हो जाते हैं और स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इसके विपरीत भूख से कुछ कम खाना, ऊनोदरी रखना स्वास्थ्य के लिये हितकर है। गृहस्थ को यह स्मरण रखना चाहिये कि भूख न होने पर अमृत का भोजन भी विष का काम करता है। भूख का समय उल्लंघन कर अनियत समय पर भोजन करना भी स्वास्थ्य के लिये हानिकर है। अग्नि के बुझ जाने पर लकड़ी देने से वह कैसे सतेज हो सकती है?

(१८) अबाधित त्रिवर्ग साधन--धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग कहलाते हैं। जिससे अभ्युदय एवं कल्याण की सिद्धि हो वह धर्म है, जिससे सभी प्रयोजन सिद्ध हो वह अर्थ है और जिससे मन और इन्द्रियों की तृप्ति हो वह काम है। गृहस्थ को परस्पर बाधा न पहुंचाते हुए इन तीनों के साथ साथ साधना करनी चाहिये। त्रिवर्ग की साधना बिना गृहस्थजीवन सफल नहीं होता।

त्रिवर्ग में से एक या दो का सेवन करना और शेष का त्याग करना गृहस्थजीवन के लिये कल्याणकारी नहीं है। जो गृहस्थ धर्म और अर्थ को छोड़ कर केवल काम का सेवन करता है

और उसी में आसक्त बना रहता है उसके धन, धर्म और शरीर का नाश होता है और फलतः वह काम से भी वञ्चित हो जाता है। जो गृहस्थ केवल अर्थ के लिये उद्यम करता है और धर्म तथा काम को छोड़ देता है उसका जीवन भी निष्फल है। धन उसके कुछ काम नहीं आता। न वह उसका उपभोग करता है न धर्म कार्यों में ही लगाता है। उसके संचित धन का उपभोग उसके बाद दूसरे ही लोग करते हैं। अर्थ और काम की उपेक्षा कर केवल धर्माचरण करना भी गृहस्थ के लिये शोभाजनक नहीं है क्योंकि केवल धर्म का आचरण साधुओं को ही शोभा देता है। इसी तरह धर्म को छोड़ कर अर्थ और काम का सेवन करना, अर्थ को छोड़ कर धर्म और काम का सेवन करना और काम को छोड़ कर धर्म और अर्थ का सेवन करना भी गृहस्थ के लिये श्रेयस्कर नहीं है। धर्म ही अर्थ और काम का मूल है, अतः इसे छोड़ कर अर्थ और काम के लिये उद्यम करना मूल को छोड़ कर पत्तों को सींचने जैसा है। ऐसा करने वाला धर्म से तो भ्रष्ट होता ही है और आगे चल कर अर्थ और काम से भी वंचित हो जाता है। उसका भविष्य अन्धकारमय हो जाता है और उसका जीवन सुखी नहीं होता। सच्चा सुखी तो वह है जो पारलौकिक सुख को बाधा न पहुँचाते हुए यहाँ पर भी सुखी रहता है। अर्थ को छोड़ कर धर्म और काम की साधना करने वाला ऋणी हो जाता है। उसका लोगों में अपवाद होता है। धन के न होने से वह अधिक काल तक धर्म और काम का सेवन भी नहीं कर सकता। जो गृहस्थ काम को छोड़ कर धर्म और अर्थ की आराधना में लगा रहता है वह सच्चे अर्थ में गृहस्थ ही नहीं है।

यदि दैववश ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो कि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की अबाधित रूप से सम्यक् साधना न हो सके और गृहस्थ को इन में से किसी को छोड़ने के लिये बाध्य होना पड़े

तो उसे चाहिये कि वह काम को छोड़ दे और धर्म और अर्थ की आराधना करे। यदि इन दो में से भी किसी को छोड़ना पड़े तो वह अर्थ को छोड़ दे और धर्म की आराधना करे। यदि धर्म रहा तो अर्थ और काम की प्राप्ति होना तो सहज ही है। कहा भी है—

धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनापि जीवतः।
आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्यं, धर्मवित्ता हि साधवः॥

भावार्थ—यदि धर्म रह जाय तो फिर किसी प्रकार का दुःख न माने चाहे खप्पर लेकर ही निर्वाह क्यों न करना पड़े। ऐसे समय में साधुजीवन का विचार कर अपने को सम्पन्न ही समझना चाहिये। साधुओं के तो धर्म ही धन होता है।

(१९) अतिथि साधु और दीन को अन्नपानादि देना—जो महात्मा सदा निरन्तर एक से अनुष्ठानों में लीन रहता है और जिसने तिथि पर्व और उत्सव का त्याग कर दिया है वह अतिथि है। सभी लोग जिसकी सराहना करते हैं और जिसका शिष्ट पुरुषों के आचार में अनुराग है वह साधु है। जिस व्यक्ति की धर्म, अर्थ और काम की आराधना शक्ति नष्ट हो गई है वह दीन है। गृहस्थ को यथाशक्ति उचित रूप से इन्हें अन्न पान आदि देना चाहिये।

(२०) सदा अभिनिवेश रहित होना—दूसरे को नीचा दिखाने की इच्छा से नीतिविरुद्ध कार्य करना अभिनिवेश कहलाता है। अभिनिवेश करना तुच्छ प्रकृति वाले व्यक्तियों का कार्य है। गृहस्थ को सदा अभिनिवेश का त्याग करना चाहिये।

(२१) गुण पक्षपात—गृहस्थ को सज्जनता, उदारता, सरलता प्रियभाषण, धैर्य, स्थिरता आदि स्वपर उपकारक आत्मगुणों का पक्ष करना चाहिये। उसको ऐसे गुणवान् पुरुषों का बहुमान करना चाहिये, उनकी प्रशंसा करनी चाहिये तथा उन्हें हर तरह से सहायता देनी चाहिये। जो जीव गुणों का पक्षपात करता है

वह महापुण्य का भागी होता है और स्वयं गुणों को प्राप्त करता है।

(२२) प्रतिषिद्ध देश काल में न जाना-जिस देश और जिस काल में जाने के लिये मना है उस देश और उस काल में गृहस्थ को न जाना चाहिये। जाने से धर्म में बाधा हो सकती है, अनेक तरह के कष्ट और चोर आदि के उपद्रव हो सकते हैं।

(२३) बलाबल का ज्ञान-गृहस्थ को अपनी और पराये की शक्ति तथा द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अपना पराया सामर्थ्य देखना चाहिये। इसी तरह उसे शक्ति और सामर्थ्य की न्यूनता पर भी विचार कर लेना चाहिये। उक्त प्रकार से शक्ति, सामर्थ्य पर विचार कर जो कार्य किया जाता है उसमें सफलता मिलती है और कर्त्ता का उत्तरोत्तर उत्साह बढ़ता है। इसका विचार किये बिना कार्य करने से सफलता नहीं मिलती। कर्त्ता का परिश्रम व्यर्थ जाता है, उसे दुःख होता है और लोग भी उसका उपहास करते हैं।

(२४) वृत्तस्थ ज्ञानवृद्धों की पूजा-अनाचार का त्याग करने वाले और आचार का सम्यक् रूप से पालन करने वाले महात्मा वृत्तस्थ कहलाते हैं। गृहस्थ को वृत्तस्थ, ज्ञानी और अनुभवी पुरुषों की विनय भक्ति और सेवा करनी चाहिये। इनके सदुपदेश से आत्मा का सुधार होता है एवं ज्ञान और क्रिया की वृद्धि होती है।

(२५) पोष्य पोषक-जिनका भरण पोषण करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है वे पोष्य कहलाते हैं जैसे-माता, पिता, स्त्री, संतान, आश्रितजन (सगे सम्बन्धी, नौकर चाकर आदि)। गृहस्थ को इनका पोषण करना चाहिये। उसे चाहिये कि वह उन्हें यथासम्भव इष्ट वस्तु की प्राप्ति करावे और हर तरह उनकी रक्षा करे।

(२६) दीर्घदर्शी-दीर्घ काल में होने वाले अर्थ और अनर्थ का पहले से ही विचार कर कार्य करने वाला पुरुष दीर्घदर्शी कहलाता है। बिना विचारे काम करने से अनेक दोष होते हैं।

गृहस्थ को परिणाम (नतीजे) का विचार कर कार्य करना चाहिये।

(२७) विशेषज्ञ–गृहस्थ को सदा वस्तु अवस्तु, कार्य अकार्य और स्व पर का विवेक रखना चाहिये। उसे आत्मा में क्या गुण दोष हैं इनका भी विचार रखना चाहिये और गुणों की वृद्धि करने और दोषों को दूर करने में निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये। जो उक्त प्रकार का विवेक रखता है वही विशेषज्ञ कहलाता है। विशेषज्ञ मनुष्य ही जीवन में सफलता पाता है। अविशेषज्ञ का जीवन पशु जीवन से बढ़कर नहीं कहा जा सकता।

(२८) कृतज्ञ–गृहस्थ को सदा कृतज्ञ होना चाहिये। दूसरे लोग उसके साथ जो भलाई करें वह उसे सदा याद रखनी चाहिये और सदा उसका एहसानमन्द रहना चाहिये। समय आने पर उपकार का बदला भी देना चाहिये। कृतज्ञ व्यक्ति उत्तरोत्तर कल्याण प्राप्त करता है और लोगों में उसकी प्रशंसा होती है। उसकी सहायता के लिये सभी तैयार रहते हैं और उसका जीवन सुखी होता है।

(२९) लोक वल्लभ–विनय आदि गुणों द्वारा सभी लोगों का प्रिय हो जाना लोकवल्लभता है। यह साधारण गुण नहीं है। अनेक गुणों का अभ्यास करने के बाद इस गुण की प्राप्ति होती है। गुणवान् से सभी प्रसन्न होते हैं, निर्गुण से कोई नहीं। गृहस्थ को भी आत्म गुणों का विकास कर लोकवल्लभ बनना चाहिये। लोक-वल्लभ व्यक्ति अपने कल्याण के साथ साथ दूसरों का कल्याण भी सहज ही साध सकता है।

(३०) सलज्ज–लज्जा दूसरे अनेक गुणों को जन्म देने वाली है। लज्जावान् व्यक्ति बुरे कार्यों में कभी प्रवृत्ति नहीं करता। प्राण त्याग कर भी वह लिये हुए व्रत नियमों का निर्वाह करता है। गृहस्थ को सदा हृदय से लज्जा धारण करनी चाहिये।

(३१) सदय–दुःखी प्राणियों के दुःख दूर करने की इच्छा ही

दया है। दया धर्म का मूल है। विश्व के सभी धर्म इसी आधार पर स्थित हैं। सृष्टि का व्यवहार भी इसी के आश्रित है। गृहस्थ को सदा सभी प्राणियों के प्रति दया भाव रखना चाहिये। उनका दुःख दूर कर उन्हें सुख पहुंचाने का प्रयत्न करना चाहिये।

(३२) सौम्य–गृहस्थ को सदा सौम्य-शान्त स्वभाव रखना चाहिये। क्रूरता को अपने पास फटकने भी न देना चाहिये। क्रूरता लोगों में उद्वेग–भय उत्पन्न करती है। सौम्य प्रकृति वाला सभी को प्रिय लगता है।

(३३) परोपकार कर्मठ–गृहस्थ को यथाशक्ति परोपकार, दूसरे का भला करना चाहिये। परोपकार के लिये गृहस्थ को धार्मिक और व्यावहारिक शिक्षण संस्थाएं, पुस्तकालय, अनाथालय, अपंगाश्रम, विधवाश्रम, औषधालय, दानशाला, पशुपक्षियों का दवाखाना, पिंजरापोल आदि संस्थाएं खोलनी और चलानी चाहिये अथवा उनमें धन से सहायता देनी चाहिये तथा उनकी तन मन से सेवा करनी चाहिये। परोपकार महान् धर्म है। इससे बड़ी शान्ति मिलती है और महापुण्य का बन्ध होता है। एक बार जिसका भला हो गया कि वह सदा के लिये उपकारी के हाथ बिक जाता है। गृहस्थ को उपकार का अवसर कभी न चूकना चाहिये। 'परोपकार जैसा पुण्य नहीं है और दूसरे को दुःख देने जैसा पाप नहीं है, यह अठारह पुराणों का सार है' ऐसा महर्षि व्यास ने कहा है।

(३४) छः अन्तरंग शत्रुओं का त्याग करना–काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष छः अन्तरंग अरि कहे गये हैं। गृहस्थ इनसे सर्वथा बच सकता है यह तो सम्भव नहीं है फिर भी अयुक्तिपूर्वक इनका प्रयोग करने से ये गृहस्थ के लिये अकल्याणकारी सिद्ध होते हैं। यथासंभव गृहस्थ को इनका त्याग करना चाहिये।

(३५) इन्द्रिय जय–यद्यपि सर्वथा रूप से इन्द्रियनिग्रह करना गृहस्थ

के लिये संभव नहीं है फिर भी उसे अपनी इन्द्रियों को स्वच्छन्द न छोड़ देना चाहिये। इन्द्रियों की स्वच्छन्दता और उनके विषय में अत्यन्त आसक्ति रखना अनेक अनर्थों का मूल है। इसलिये गृहस्थ को इन्द्रियों की स्वच्छन्दता का निरोध करना चाहिये एवं शब्द आदि विषयों के उपभोग में संयम रखना चाहिये।

इन पैंतीस गुणों से युक्त गृहस्थ धर्म पालन के योग्य होता है।

(योगशास्त्र प्रथम प्रकाश ४७ से ५६ श्लोक)

छत्तीसवाँ बोल संग्रह

६८१-सूयगडांग सूत्र के नवें धर्माध्ययन की छत्तीस गाथाएं

सूयगडांग सूत्र के नवम अध्ययन का नाम धर्माध्ययन है। इसमें लोकोत्तर धर्म का वर्णन है। इस अध्ययन में ३६ गाथाएं हैं। भावार्थ क्रमशः नीचे दिया जाता है—

(१) जीव हिंसा न करने का उपदेश देने वाले केवलज्ञानी भगवान् महावीरस्वामी ने कौन सा धर्म कहा है? शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर में गुरु कहते हैं—राग द्वेष के विजेताओं का मायाप्रपंचरहित सरल धर्म जैसा है वैसा मैं तुम्हें कहता हूँ। ध्यान पूर्वक सुनो।

(२-३) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, बोक्कस (वर्णशंकर), ऐषिक (जीविका के लिये मृग हस्ती आदि तथा कन्द मूल फल आदि की और अन्य विषयसाधनों की गवेषणा करने वाले), वैशिक (मायाप्रधान कला से निर्वाह करने वाले बनिये), शूद्र तथा अन्य नीच वर्ण के लोग, जो विविध प्रकार की विशेष हिंसक-क्रियाओं से आजीविका करते हैं—ये सभी परिग्रह में गृद्ध हो रहे हैं और दूसरे जीवों के साथ वैर भाव बढ़ाते हैं। शब्द रूप आदि

विषयों में प्रवृत्त होकर ये लोग जीव हिंसा के अनेक कार्य करते हैं। इसलिए ये दुःख से, कर्म से छुटकारा नहीं पाते।

(४) मृत सम्बन्धी के दाह संस्कार आदि क्रियाकर्म करके विषयलोलुप स्वजन तथा अन्य जाति के लोग उसके दुःख से कमाये हुए धन के स्वामी बन कर मौज करते हैं। किन्तु पाप कर्मों से धन संचय करने वाला वह व्यक्ति अपने अशुभ कर्मों के फल स्वरूप अनेक दुःख भोगता है।

(५) माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, पुत्रवधू तथा अन्य स्वजन सम्बन्धी—कोई भी अपने अशुभ कर्मों का फल भोगते हुए प्राणी की दुःख से रक्षा नहीं कर सकते।

(६) स्वजन सम्बन्धी स्वार्थी हैं, ये प्राणी को दुःख से छुड़ाने में असमर्थ हैं। इसके विपरीत सम्यग्दर्शन आदि जीव को सदा के लिये दुःख से मुक्त कर मोक्ष प्राप्त कराने वाले हैं। यह जान कर साधु को ममता एवं अहंभाव का त्याग करते हुए जिनोक्त संयम मार्ग का आचरण करना चाहिये।

(७) संसार की वास्तविकता जानने वाले आत्मा को चाहिये कि वह धन, पुत्र, ज्ञाति और परिग्रह को छोड़ दे। कर्म बन्ध के आन्तरिक कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि का भी उसे त्याग कर देना चाहिये और धन धान्य पुत्र आदि की अपेक्षा न करते हुए उसे संयमानुष्ठान का पालन करना चाहिये।

(८) पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, तृण वृक्ष बीज रूप वनस्पतिकाय और त्रसकाय ये छः काय हैं। अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज और उद्भिज—ये त्रसकाय के भेद हैं।

(९) विद्वान् पुरुष को छः काय के इन जीवों का स्वरूप जान कर मन वचन काया से इनकी हिंसा छोड़ देनी चाहिये। आरम्भ परिग्रह में हिंसा होती है, इसलिये इनका भी त्याग करना चाहिये।

(१०) मृषावाद, मैथुन परिग्रह और अदत्तादान—ये प्राणियों को सन्ताप—कष्ट देने वाले हैं अतएव शस्त्र रूप हैं तथा कर्म-बन्ध के कारण हैं। विद्वान् पुरुष को इनका स्वरूप जान कर इन्हें हेय समझ कर छोड़ देना चाहिये।

(११) माया, लोभ, क्रोध और मान ये चारों कषाय लोक में कर्म बन्ध के कारण हैं। इनके दुष्परिणाम को जानकर समझदार पुरुष को इनका त्याग करना चाहिए।

(१२) हाथ, पैर, वस्त्र आदि को धोना और रंगना, वस्तिकर्म यानी एनिमा लेना, जुलाब लेना, औषधि द्वारा वमन करना, आँखों में अंजन लगाना ये तथा शरीर संस्कार के ऐसे ही अन्य साधन संयम की घात करने वाले हैं। इनके दुर्विपाक को जान कर विद्वान् साधु को इनका सेवन न करना चाहिए।

(१३) गन्ध, फूलमाला, स्नान, दंतधावन, सचित्तादि का परिग्रह, स्त्री, हस्तकर्म या सावद्यानुष्ठान—इन्हें, संयम का घातक एवं पापकर्म का कारण जानकर विद्वान् मुनि को छोड़ देना चाहिए।

(१४) जो आहार गृहस्थ द्वारा साधु आदि के उद्देश से बनाया गया हो, साधु के निमित्त खरीदा या उधार लिया गया हो, साधु के लिए सामने लाया गया हो तथा जिसमें आधाकर्मी का अंश मिला हो या अन्य दोषों से दूषित होने के कारण अनेषणीय हो विद्वान मुनि को उसे, संसार का कारण जान कर, न लेना चाहिए।

(१५) हृष्ट पुष्ट और बलवान् बनने के लिए रसायन आदि का सेवन करना, शोभा के लिए आँखों में अञ्जन लगाना, शब्दादि विषयों में गृद्ध रहना तथा जीव हिंसाकारी कार्य करना, जैसे हाथ पैर धोना, उबटन करना आदि—इन सभी को कर्म बन्ध का कारण जान कर पण्डित मुनि को इनका त्याग करना चाहिए।

(१६) असंयति के साथ सांसारिक वार्तालाप करना, असंयम के

कार्यों की प्रशंसा करना, संसार व्यवहार एवं मिथ्याशास्त्र सम्बन्धी प्रश्नों का तदनुसार यथावस्थित निर्णय देना अथवा आदर्शप्रश्न (दर्पण में देवता का आह्वान कर प्रश्न का उत्तर देना) आदि का कथन करना, शय्यातर का आहार लेना—इन्हें ज्ञपरिज्ञा से हेय जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से विद्वान् मुनि इनका त्याग करे।

(१७) मुनि को चाहिये कि वह अर्थशास्त्र तथा अन्य हिंसक-शास्त्र न सीखे और अधर्मप्रधान वचन न कहे। कलह तथा शुष्क-वाद को संसारभ्रमण का कारण जान कर विद्वान् मुनि को उनका त्याग करना चाहिये।

(१८) जूते पहनना, छाता लगाना, जुआ खेलना, मयूरपिच्छादि के पंखों से हवा करना तथा आपस में कर्मबन्ध कराने वाली एक दूसरे की क्रिया करना—इन सभी को कर्मोपादान का कारण जान कर विद्वान् मुनि को छोड़ देना चाहिये।

(१९) मुनि को हरी वनस्पति बीज पर तथा शास्त्रोक्त स्थण्डिल के सिवाय अन्य स्थान पर टट्टी पेशाब न करना चाहिये। बीज हरित् हटाकर अचित्त जल से भी उसे आचमन (शौच) न करना चाहिये।

(२०) साधु को गृहस्थ के पात्र में न भोजन करना चाहिये और न पानी ही पीना चाहिये। इसी प्रकार वस्त्र न रहने पर भी उसे गृहस्थ के वस्त्र न पहनना चाहिये। गृहस्थ के पात्र एवं वस्त्र का उपयोग करने से पुरःकर्म पश्चात्कर्म आदि अनेक दोषों की संभावना रहती है। अतएव इन्हें संसारपरिभ्रमण का कारण जान कर विद्वान् मुनि को इनका त्याग करना चाहिये।

(२१) आसन एवं पलंग पर बैठना, सोना, गृहस्थ के घर में अथवा दो घरों के बीच बैठना, गृहस्थ से कुशल प्रश्न पूछना तथा पूर्व क्रीड़ा को याद करना ये सभी संयम की विराधना करने वाले एवं अनर्थकारी हैं। विद्वान् मुनि को इन्हें संसार बढ़ाने वाला

जानकर इनका त्याग करना चाहिये।

(२२) यश, कीर्ति, श्लाघा, वंदन पूजन तथा सकल लोक में इच्छा मदन रूप जो काम भोग हैं-ये सभी आत्मा का अपकार करने वाले हैं। विद्वान् मुनि को इनसे अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिये।

(२३) जिस आहार पानी को लेने से संयम यात्रा का निर्वाह होता है ऐसा द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा शुद्ध आहार पानी साधु को लेना चाहिये तथा उसे दूसरे साधुओं को देना चाहिये। अथवा उसे संयम को असार बनाने वाला आहार पानी न लेना चाहिये न वैसा दूसरा ही कार्य करना चाहिये साधु को गृहस्थ, अन्यतीर्थी अथवा स्वयूथिक को संयमोपघातक आहार पानी आदि का दान न करना चाहिये। संयमघातक दोषों को संसार का कारण जान कर विद्वान् मुनि को उनका त्याग करना चाहिये।

(२४) अनन्त ज्ञान दर्शन सम्पन्न निर्ग्रन्थ महामुनि श्री महावीर देव ने इस प्रकार फरमाया है। उन्हीं भगवान् ने श्रुत चारित्र रूप धर्म का उपदेश दिया है।

(२५) रत्नाधिक (दीक्षा में बड़े) बातचीत करते हों तो साधु को बीच में न बोलना चाहिये। उसे मर्मकारी-दूसरे को दुःख पहुं-चाने वाला वचन न कहना चाहिये। कपटभरी बात भी साधु को न कहनी चाहिये। किन्तु उसे पहले से ही खूब सोच विचार कर भाषासमिति का ध्यान रखते हुए बोलना चाहिये।

(२६) भाषा चार प्रकार की है-सत्य भाषा, असत्य भाषा, मिश्र भाषा और व्यवहार भाषा। इनमें से तीसरी मिश्र भाषा-असत्य मिश्रित सत्यभाषा साधु को न कहनी चाहिये, असत्य भाषा का तो कहना ही क्या ? वक्ता को ऐसी भाषा बोलने के बाद पीछे से दुःख एवं पश्चात्ताप होता है और जन्मान्तर में भी उसे कष्ट उठाना पड़ता है। सत्य या व्यवहार भाषा भी हिंसाप्रधान हो

या लोग उसे छिपाते हों तो साधु को न कहनी चाहिये। निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर देव की यही आज्ञा है।

(२७) साधु को होला (निष्ठुर अपमान सूचक शब्द), सखा एवं गोत्र के नाम से किसी को न बुलाना चाहिए। तिरस्कार प्रधान तूँकारे के शब्द भी उसके मुंह से कभी न निकलने चाहिये। अप्रियकारी और भी कोई वचन साधु को कतई न कहना चाहिये।

(२८) साधु को कुशील अर्थात् कुत्सित आचार वाला न होना चाहिये। कुशील पुरुषों के संसर्ग में भी उसे न रहना चाहिये। कुशील संसर्ग से संयम का नाश करने वाले सुखरूप अनुकूल उपसर्ग उत्पन्न होते हैं। विद्वान् मुनि को इससे होने वाली हानियों पर विचार कर इसका परित्याग करना चाहिये।

(२९) वृद्धावस्था या रोगादिजनित अशक्ति के सिवाय साधु को गृहस्थ के घर न बैठना चाहिये। उसे गाँव के लड़कों का खेल न खेलना चाहिये एव साधुमर्यादा से बाहर हँसना भी न चाहिये।

(३०) सुन्दर,मनोहर एवं प्रधान शब्दादि विषयों को देख कर या सुनकर साधु को उत्सुक न होना चाहिये। उसे मूल एवं उत्तर-गुणों में यत्नशील रहते हुए संयम मार्ग में विचरना चाहिये। भिक्षा-चर्या आदि में उसे सावधान रहना चाहिये एवं आहारादि सम्बन्धी गृद्धिभाव को दूर करना चाहिये। परीषह उपसर्गों के समुपस्थित होने पर वीरतापूर्वक उन्हें सहन करना चाहिये।

(३१) साधु को यदि कोई लाठी आदि से मारे तो उसे कुपित न होना चाहिये। दुर्वचन एव गाली सुन कर भी उसे प्रतिकूल वचन न कहना चाहिये। उसे अपना मन विकृत न करते हुए समभावपूर्वक बिना शोरगुल किये उपस्थित परीषहों को सहन करना चाहिये।

(३२) साधु को चाहिए कि वह प्राप्त कामभोगों को ग्रहण न करे और न तपोविशेष से प्राप्त लब्धियों का ही उपयोग करे। ऐसा

करने से उसके भावविवेक प्रगट होता है। उसे अनार्य कर्तव्यों का त्याग कर आचार्य महाराज के समीप रहते हुए ज्ञान दर्शन चारित्र का अभ्यास करना चाहिये।

(३३) जो स्व-पर-सिद्धान्त के जानकार हैं, बाह्य आभ्यन्तर तप का सम्यक् रूप से सेवन करते हैं ऐसे ज्ञानी एवं चारित्र-शील गुरु महाराज की सेवा शुश्रूषा करते हुए उनकी उपासना करनी चाहिये। जो वीर अर्थात् कर्मों का विदारण करने में समर्थ हैं, आत्महित के अन्वेषक हैं एवं धैर्यशाली और जितेन्द्रिय हैं वे महापुरुष ही उक्त क्रिया का पालन करते हैं।

(३४) गृहवास में श्रुत एवं चारित्र की प्राप्ति पूर्णरूप से नहीं होती ऐसा जान कर जो प्रव्रज्या धारण करते हैं एवं उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि करते हैं वे पुरुष मुमुक्षुजनों के आश्रय योग्य होते हैं। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त हुए वे वीर पुरुष असंयत जीवन की कभी इच्छा नहीं करते।

(३५) मुमुक्षु को मनोज्ञ शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श में आसक्त न होना चाहिये और न अमनोज्ञ शब्दादि से उसे द्वेष ही करना चाहिये। सावद्यानुष्ठानों में भी उस प्रवृत्ति न करनी चाहिये। इस अध्ययन में जिन बातों का निषेध किया गया है तथा अन्य-तीर्थियों के दर्शनों में जो बहुत से अनुष्ठान कहे गये हैं वे सभी जैन-दर्शन से विरुद्ध हैं। मुमुक्षु को उनका आचरण न करना चाहिये।

३६) विद्वान् मुनि को अतिमान और माया एवं उनके सह-चारी क्रोध और लोभ का त्याग करना चाहिये। ऋद्धि, रस और साता गारव को संसार के कारण जान कर मुनि को उन्हें छोड़ देना चाहिये। कषाय और गारव का त्याग कर उसे मोक्ष की प्रार्थना करनी चाहिये।

(सूयगडांग प्रथम श्रुतस्कन्ध नवम अध्ययन)

६८२--आचार्य के छत्तीस गुण

प्रवचनसारोद्धार में आचार्य के छत्तीस गुण तीन प्रकार से बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

आचार सम्पदा, श्रुत सम्पदा, शरीर सम्पदा, वचन सम्पदा, वाचना सम्पदा, मति सम्पदा, प्रयोगमति सम्पदा और संग्रह परिज्ञा ये आठ गणी अर्थात् आचार्य की सम्पदाएं हैं। प्रत्येक सम्पदा के चार चार भेद होने से बत्तीस भेद होते हैं। आचार, श्रुत, विक्षेपणा और दोषनिर्घातन ये विनय के चार भेद हैं। गणी सम्पदा के बत्तीस और चार विनय-ये छत्तीस आचार्य के गुण कहे जाते हैं।

नोट—आठ सम्पदा और इनके चार चार भेदों का वर्णन इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ५७४ में दिया गया है। विनय के चार भेद एवं प्रत्येक के चार चार अवान्तर भेद इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में बोल नं० २२६ से २३३ तक में दिये गये हैं।

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार प्रत्येक के आठ आठ भेद मिलाने से चौबीस होते हैं। ये चौबीस तथा बारह प्रकार का तप कुल छत्तीस भेद होते हैं। ये आचार्य के छत्तीस गुण कहे जाते हैं।

नोट—ज्ञानाचार और दर्शनाचार के भेद इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में क्रमशः बोल नं० ५६८ और ५६९ में व्याख्या सहित दिये गये हैं। पाँच समिति और तीन गुप्ति ये आठ चारित्राचार के भेद हैं। इनका स्वरूप इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में क्रमशः बोल नम्बर ३२३ और १२८ (ख) में दिया गया है। छः बाह्य तप एवं छः आभ्यन्तर तप इस प्रकार तप के बारह भेदों का स्वरूप इसी ग्रन्थ के दूसरे भाग में बोल नं० ४७६ और ४७८ में दिया गया है।

आठ सम्पदा, दस स्थितिकल्प, बारह तप और छः आवश्यक कुल मिलाकर ये छत्तीस भेद भी आचार्य के छत्तीस गुण कहे जाते हैं। दस स्थितिकल्प का वर्णन इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग

में बोल नं० ६६२ (कल्प दस) में तथा छः आवश्यक का वर्णन इसी ग्रंथ के दूसरे भाग में बोल नं० ४७९ में दिया गया है।

प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार ने आचार्य के छत्तीस गुण चौथे प्रकार से भी गिनाये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) देशयुत—मध्य देश अथवा साढ़े पच्चीस आर्य देशों में जन्म लेने वाला देशयुत कहलाता है। ऐसा व्यक्ति आर्य देश की भाषा जानता है इसलिए वह सुखपूर्वक शिष्यों को सिखा सकता है।

(२) कुलयुत—पितृपक्ष कुल कहा जाता है। इक्ष्वाकु आदि उत्तम कुल में उत्पन्न कुलीन व्यक्ति स्वीकृत व्रत अनुष्ठानों का निर्वाह करने में समर्थ होता है।

(३) जातियुत—मातृपक्ष को जाति कहते हैं। उच्च जाति वाला व्यक्ति विनयादि गुण वाला होता है।

(४) रूपयुत—रूपवान् व्यक्ति गुणवान् होता है। कहा भी है—'यत्राकृतिस्तत्र गुणाः वसन्ति' अर्थात् जहाँ सुन्दर रूप है वहाँ गुण निवास करते हैं। लोग ऐसे व्यक्ति के गुणों के प्रति आकृष्ट होते हैं एवं उसका बहुमान करते हैं। उसके वचन प्रायः सभी को आदेय होते हैं।

(५) संहनन युत—विशिष्ट संहनन यानी शारीरिक गठन एवं सामर्थ्य वाला व्यक्ति व्याख्यान देते हुए खेद अनुभव नहीं करता।

(६) धृतियुत—विशिष्ट मानसिक स्थिरता वाले धैर्यशाली व्यक्ति को अतिगहन अर्थ में भी भ्रान्ति नहीं होती।

(७) अनाशंसी—अनाशंसी अर्थात् निस्पृह व्यक्ति श्रोताओं से वस्त्रादि पाने की इच्छा नहीं करता। इससे वह श्रोताओं को खरी बात कह सकता है एवं उसके उपदेश का असर अच्छा होता है।

(८) अविकत्थन—आत्मश्लाघा न करने वाला तथा थोड़ा बोलने वाला अथवा किसी से थोड़ा सा अपराध हो जाने पर

उसे बार बार न कहने वाला अविकत्थन कहा जाता है।

(९) अमायी–अशठ–सरल परिणाम वाला अमायी होता है।

(१०) स्थिर परिपाटी–निरन्तर अभ्यास से जिसे अनुयोग की परिपाटी (क्रम) स्थिर हो गई है वह स्थिरपरिपाटी कहलाता है। ऐसा व्यक्ति सूत्र अर्थ के व्याख्यान में स्खलित नहीं होता।

(११) गृहीतवाक्य–उपादेय वचन वाले व्यक्ति के थोड़े से शब्द भी सारगर्भित प्रतीत होते हैं।

(१२) जितपर्षत्–परिषद् को वश करने में कुशल व्यक्ति कैसी भी बड़ी सभा में नहीं घबराता है।

(१३) जितनिद्र–निद्रा को जीतने वाला, थोड़ा सोने वाला व्यक्ति रात्रि में सूत्र अर्थ का खूब चिन्तन मनन कर सकता है।

(१४) मध्यस्थ–मध्यस्थ व्यक्ति सभी शिष्यों में समभाव रखता है और इसलिये वह सभी का समान रूप से पूज्य होता है।

(१५–१७) देश काल और भाव का ज्ञाता– ऐसा व्यक्ति लोगों के देश, काल और भाव को जानकर सुख से विचरता है। शिष्यों का अभिप्राय जान कर वह उनसे इच्छानुसार कार्य कराता है।

(१८) आसन्नलब्धप्रतिभ–ज्ञानावरणीय का विशिष्ट क्षयोपशम होने से जिसे तत्काल समयानुकूल बुद्धि उत्पन्न होती है ऐसा व्यक्ति अन्यतीर्थियों के साथ वाद कर विजयी होता है और शासन की महती प्रभावना करता है।

(१९) नानाविध देश भाषज्ञ– अनेक देश की भाषाएं जानने वाला देश देशान्तर के शिष्यों को सुखपूर्वक शास्त्र पढ़ा सकता है। देश देशान्तर में विहार कर वहाँ के निवासियों को उनकी भाषा में धर्मोपदेश देकर उन्हें धर्म की ओर उन्मुख कर सकता है।

(२०–२४ पंचविध आचार युक्त– ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य–इन पांच आचारों का उत्साहपूर्वक सावधानी के

साथ पालन करने वाला। ऐसा आचारनिष्ठ महात्मा ही दूसरों से आचार का पालन करवा सकता है।

(२५) सूत्रार्थतदुभयविधिज्ञ—सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम को जानने वाला। इनका जानकार ही इनका व्याख्यान कर सकता है और शिष्यों से शास्त्रानुकूल क्रिया पलवा सकता है।

(२६-२९) आहरणहेतूपनय नय निपुण- आहरण अर्थात् दृष्टान्त, हेतु, उपनय और नय में कुशल। इनका पूर्ण ज्ञाना वाला दक्ष व्यक्ति श्रोता को उसकी योग्यता के अनुसार कभी दृष्टान्त देकर समझाता है, कभी हेतु कहता है और व्याख्यात अर्थ का अच्छी तरह से उपसंहार करता है। नयों में निपुण होने से वह नयों के व्याख्यान के समय उन्हें अच्छी तरह विस्तारपूर्वक समझाता है।

(३०) ग्राहणाकुशल—दूसरों को समझाने की कला जानने वाला। व्याख्याता के लिए इसमें कुशल होना आवश्यक है।

(३१-३२) स्वपरसमयवेदी—अपने और अन्यतीर्थियों के सिद्धान्तों का जानकार। ऐसा व्यक्ति ही अच्छा व्याख्याता होता है। जैन दर्शन पर दूसरों के आक्षेप किये जाने पर वह उन्हें उचित जवाब देकर अपन पक्ष का निर्वाह कर सकता है और प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों की कमजोरी बता कर उसे चुप कर सकता है।

(३३) गम्भीर-गम्भीर व्यक्ति तुच्छता पर नहीं उतरता और इसलिये वह अपने गौरव की रक्षा कर लेता है।

(३४) दीप्तिमान्—तेजस्वी पुरुष दूसरे के प्रभाव में नहीं आता, न प्रतिवादी उसे दबा ही सकता है। वह दूसरों को सहज ही प्रभावित कर धर्म की ओर प्रवृत्त कर सकता है।

(३५) शिव—कोप न करने वाला अथवा जहाँ तहाँ विहार कर लोगों का कल्याण करने वाला।

(३६) सोम—सौम्य—शान्त दृष्टि वाला।

आचार्य उक्त छत्तीस गुणों से अलकृत होते हैं। उपलक्षण से उनमें उदारता, स्थिरता आदि और भी सैकड़ों गुण होते हैं तथा वे मूलगुण और उत्तरगुणों के तो धारक होते ही हैं।

(प्रवचन सारोद्धार द्वार ६४)

९८३-प्रश्नोत्तर छत्तीस

(१) प्रश्न-नमस्कार सूत्र में अरिहन्त, आचार्य और उपाध्याय इन तीनों पदों का समावेश साधुपद में हो जाता है फिर सिद्ध और साधु-ये दो ही पद न कहकर पाँच पद क्यों कहे ?

उत्तर-अरिहन्त, आचार्य और उपाध्याय साधु गुणों से सहित होते हैं यह ठीक है। किन्तु सभी साधु अरिहन्त, आचार्य और उपाध्याय के गुणों से सहित नहीं होते। साधुओं में कुछ अरिहन्त होते हैं जिन्हें तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय होता है, कई सामान्य केवली होते हैं, कई विशिष्ट सूत्रों की देशना देने वाले आचार्य होते हैं, कई सूत्र पढ़ाने वाले उपाध्याय होते हैं और शेष सामान्य साधु होते हैं। सामान्य साधु कहने से विशिष्ट गुणधारक अरिहन्त आदि के विशेष गुणों का ख्याल नहीं होता। इसलिये साधु सामान्य को नमस्कार करने से विशिष्ट गुण सम्पन्न अरिहन्त आदि का न स्मरण होता है और न वैसी भावना ही होती है। मनुष्य सामान्य अथवा जीव सामान्य को नमस्कार करने से जैसे अरिहन्त आदि विशिष्ट पुरुषों को नमस्कार नहीं होता, इसी तरह सामान्य साधु को नमस्कार करने से भी अरिहन्तआदि को नमस्कार नहीं होता। अतएव नमस्कार सूत्र में अरिहन्त, आचार्य और उपाध्याय को सामान्य साधु से पृथक् नमस्कार किया गया है।

(भगवतीसूत्र मंगलाचरण टीका) (विशेषावश्यक भाष्य गाथा ३२०१ से ३२०६)

(२) प्रश्न सिद्ध अरिहन्त से बड़े हैं फिर नमस्कार सूत्र में अरिहन्त को पहले नमस्कार क्यों किया गया ?

उत्तर–सिद्ध सर्वथा कृतकृत्य होते हैं, अरिहन्त भी दीक्षा धारण करते समय सिद्ध भगवान् को नमस्कार करते हैं इस कारण सिद्ध अरिहन्त की अपेक्षा गुणों में प्रधान हैं और प्रधानता की दृष्टि से नमस्कार सूत्र में उन्हें प्रथमपद में और अरिहन्त को दूसरे पद में रखना चाहिये, यह कहा जाता है। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। वास्तव में अरिहन्त ही प्रधान हैं और महान् उपकारी हैं। ये ही तीर्थ के प्रवर्तक होते हैं और इन्हीं के उपदेश से सिद्धों का ज्ञान होता है। इस प्रकार प्रधानता की दृष्टि से ही अरिहन्त को पहले नमस्कार किया गया है।

सिद्धों की प्रधानता के जो कारण दिये जाते हैं वे भी ठीक नहीं हैं। अरिहन्त भी थोड़े ही काल में सर्वथा कृतकृत्य होने वाले होते हैं इसलिए कृतकृत्यता दोनों में समान ही है। दीक्षा के समय नमस्कार करने से सिद्धों की प्रधानता सिद्ध नहीं होती। यों तो अरिहन्त भी सिद्धों के नमस्कार योग्य हो जायेंगे क्योंकि सिद्धिपद की प्राप्ति भी अरिहन्तों के नमस्कार पूर्वक होती है। दूसरी बात यह है कि अरिहन्त दीक्षा लेते समय सिद्धों को नमस्कार करते हैं उस समय वे छद्मस्थ होते हैं किन्तु केवली नहीं होते।

अरिहन्त के उपदेश से सिद्धों का ज्ञान होता है इसलिये वे बड़े हैं। यदि यह माना गया तो आचार्य आदि भी प्रधान हो जायेंगे क्योंकि अरिहन्त के अभाव में उन्हीं के उपदेश से अरिहन्त और सिद्ध दोनों का ज्ञान होता है। इसलिये गौतमादि के लिये नमस्कार सूत्र का क्रम ठीक है किन्तु दूसरों के लिये, जो आचार्य के उपदेश से अरिहन्त और सिद्ध का ज्ञान प्राप्त करते हैं, आचार्य के नमस्कार के साथ इस सूत्र का प्रारंभ होना चाहिये। यह कहना भी युक्ति संगत नहीं है क्योंकि आचार्य स्वतन्त्र देशना नहीं देते किन्तु अरिहन्त के उपदेश के अनुसार ही उनका उपदेश होता है। इसलिये वास्तव

में अरिहन्त ही सभी अर्थ बतलाने वाले हैं। इस प्रकार नमस्कार सूत्र में जो सर्व प्रथम अरिहन्त को नमस्कार किया गया है वह सभी के लिये युक्त ही है। आचार्य तो अरिहन्त की सभा के सभ्य रूप हैं उन्हें अरिहन्त से पहले नमस्कार कैसे किया जा सकता है।
(भगवती मंगलाचरण टीका) (विशेषावश्यक भाष्य गाथा ३२१०-३२२१)

(३) प्रश्न—नमस्कार उत्पन्न है या अनुत्पन्न ? यदि उत्पन्न होता है तो उसके उत्पादक निमित्त क्या हैं ?

उत्तर—नमस्कार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सभी नय एकमत नहीं हैं। कोई नमस्कार को अनुत्पन्न (शाश्वत) और कोई उसे उत्पन्न मानते हैं। सर्वसंग्राही नैगम नय का विषय सामान्य है और वह उत्पाद और विनाश से रहित है इस नय के अनुसार सभी वस्तुएं सदा से हैं। न कोई वस्तु नई उत्पन्न होती है और न नष्ट ही होती है। इसलिये इस नय की अपेक्षा नमस्कार अनुत्पन्न है। मिथ्या-दृष्टि अवस्था में भी यह नय द्रव्यरूप से नमस्कार का अस्तित्व मानता है। यदि ऐसा न माना जाय तो नमस्कार फिर उत्पन्न ही न होगा क्योंकि सर्वथा असत् वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती।

शेष विशेषवादी नयों का विषय विशेष है और वह उत्पाद विनाश धर्म वाला है। इन नयों की अपेक्षा उत्पाद और विनाश रहित वस्तु वन्ध्यापुत्र की तरह असद्रूप है। इसलिये ये नय नमस्कार को उत्पन्न मानते हैं।

जो वस्तु उत्पन्न होती है उसके उत्पादक निमित्त भी होते हैं। नमस्कार के तीन निमित्त हैं—समुत्थान (शरीर), वाचना और लब्धि। अविशुद्ध नैगम, संग्रह और व्यवहार—इन तीन नयों की अपेक्षा नमस्कार के ये तीन निमित्त हैं। ऋजुसूत्र नय वाचना और लब्धि दो ही निमित्त मानता है क्योंकि देह के होते हुए भी वाचना और लब्धि के अभाव में नमस्कार रूप कार्य की उत्पत्ति

नहीं होती। शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय केवल आवरण क्षयोपशम रूप लब्धि को ही नमस्कार का कारण मानते हैं क्योंकि लब्धिरहित अभव्य जीवों में वाचना का निमित्त मिल जाने पर भी नमस्कार रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

उक्त नयों के मन्तव्यों के समर्थन और विरोध में विशेषावश्यक भाष्य में अनेक युक्तियाँ दी गई हैं। विशेष जिज्ञासा के लिये यह विषय वहाँ देखना चाहिये।

(विशेषावश्यक भाष्य गाथा २८०६ से २८३६)

(४) प्रश्न—नमस्कार का स्वामी नमस्कारकर्त्ता है या पूज्य है?

उत्तर—नमस्कार के स्वामित्व के सम्बन्ध में नयों के अभिप्राय जुदे जुदे हैं। नैगम और व्यवहार नय के अनुसार नमस्कार का स्वामी पूज्य आत्मा है। जैसे साधु को दी गई भिक्षा साधु की होती है पर दाता की नहीं होती। इसी प्रकार पूज्य को किया गया नमस्कार पूज्य का होता है परन्तु नमस्कार करने वाले का नहीं होता। जैसे रूपादि धर्म घट का स्वरूप बतलाने के कारण घट की पर्याय हैं इसी प्रकार नमस्कार भी पूज्य की पूज्यता बतलाता है इस लिये वह पूज्य की पर्याय है। चूँकि पूज्य नमस्कार का हेतु है उसे देख कर भक्त में नमस्कार करने की भावना प्रगट होती है इस कारण भी नमस्कार पूज्य का ही है। नमस्कार करने वाला पूज्य का दासत्व स्वीकार करता है। इस दृष्टि से भी वह और उससे किया गया नमस्कार पूज्य ही के हैं।

संग्रह नय सामान्य मात्र को विषय करता है इस कारण वह जीव का नमस्कार, पूज्य का नमस्कार इत्यादि विशेषण रहित केवल सत्ता रूप नमस्कार को स्वीकार करता है। इसलिये यह नय स्वामित्व का विचार ही नहीं करता।

ऋजुसूत्र के अनुसार नमस्कार उपयोगात्मक ज्ञान रूप अथवा

'अरिहन्त को नमस्कार हो' इस प्रकार शब्द रूप अथवा मस्तक झुकाने आदि क्रिया रूप है। ये ज्ञान शब्द और क्रिया नमस्कार-कर्त्ता के गुण हैं इसलिये नमस्कार भी उसी का है। नमस्कार करना कर्त्ता के अधीन है, इस कारण भी वह उसी का है। नमस्कार का स्वर्गादि फल नमस्कार करने वाले को प्राप्त होता है, नमस्कार कारणक कर्मों का क्षयोपशम भी उसी के होता है इसलिए नमस्कार का स्वामी भी वही है।

शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत नय के अनुसार उपयोग रूप ज्ञान ही नमस्कार है किन्तु वे शब्द और क्रिया रूप नमस्कार नहीं मानते। ज्ञान रूप उपयोग का स्वामी नमस्कार कर्त्ता है इसलिये इन नयों के अनुसार नमस्कार का स्वामी भी वही है।

(विशेषावश्यक भाष्य २८७० से २८६२)

(५) प्रश्न–तीर्थङ्कर दीक्षा लेते समय किसे नमस्कार करते हैं?

उत्तर–तीर्थङ्कर देव दीक्षा लेते समय सिद्ध भगवान् को नमस्कार करते हैं। आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावनाध्ययन में भगवान् महावीर की दीक्षा के सम्बन्ध में यह पाठ है–

तओ णं समणे जाव लोयं करित्ता सिद्धाणं णमुक्कारं करेइ, करित्ता सव्वं मे अकरणिज्जं पावं कम्मं ति कट्टु सामाइयं चरित्तं पडिवज्जइ।

भावार्थ–इसके पश्चात् श्रमण भगवान् यावत् लोच करके सिद्ध भगवान् को नमस्कार करते हैं और सभी पाप कर्मों का त्याग कर सामायिक चारित्र अंगीकार करते हैं।

इसी प्रकरण में हारिभद्रीयावश्यक में यह गाथा है–

काऊण णमुक्कारं सिद्धाणमभिग्गहं तु से गिण्हे।
सव्वं मे अकरणिज्ज पावं ति चरित्तमारूढो॥

भावार्थ–सिद्धों को नमस्कार कर वे अभिग्रह लेते हैं कि सभी

पापों का मुझे त्याग है इस प्रकार भगवान् ने चारित्र स्वीकार किया।

(६) प्रश्न– क्या परमावधिज्ञानी चरमशरीरी होते हैं ?

उत्तर–भगवती सूत्र के सातवें शतक के सातवें उद्देशे में परमावधिज्ञानी को चरमशरीरी बतलाया है। परमावधिज्ञानी के लिये सूत्रकार ने 'तेणेव भवग्गहणेण सिज्झित्तए जाव अंतं करेत्तए' कहा है अर्थात् वह उसी भव में सिद्ध होता है यावत् कर्मों का अन्त करता है। भगवती सूत्र के अठारहवें शतक के आठवें उद्देशे में टीका में कहा है कि परमावधिज्ञानी अवश्य ही अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करता है।

(७) प्रश्न–किसी विषय की शंका होने पर अनुत्तर विमानवासी देव किस को पूछते हैं और कहाँ से ?

उत्तर–अनुत्तरविमानवासी देव शंका उत्पन्न होने पर अपने विमान से ही यहाँ रहे हुए केवली से पूछते हैं और केवली जो समाधान देते हैं उसे वे वहीं से जान लेते हैं। भगवती सूत्र के पाँचवें शतक चौथे उद्देशे में इस विषय में प्रश्नोत्तर हैं। भावार्थ इस प्रकार है:—

प्रश्न हे भगवन्! क्या अनुत्तरौपपातिक देव वहीं रहते हुए यहाँ रहे हुए केवली के साथ (मानसिक) आलाप संलाप कर सकते हैं ? उ० हाँ, कर सकते हैं। प्र० हे भगवन्! यह किस तरह ? उ० हे गौतम! अनुत्तरौपपातिक देव अपने स्थान पर रहे हुए ही अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण अथवा व्याकरण पूछते हैं और यहाँ रहे हुए केवली उनका उत्तर देते हैं इस प्रकार वे देवता आलाप संलाप कर सकते हैं। प्र० हे भगवन्! केवली जो उत्तर देते हैं उसे अनुत्तरविमानवासी देव क्या वहीं रहते हुए जानते देखते हैं ? उ० हां, जानते देखते हैं। प्र० हे भगवन्! अनुत्तरविमान के देव अपने विमान से ही केवली द्वारा दिये गये उत्तर कैसे जानते और देखते हैं ? उ० हे गौतम! अनन्त मनोद्रव्यवर्गणाएं उन देवताओं के अवधिज्ञान का विषय होती हैं और सामान्य तथा विशेष रूप

से ज्ञात होती हैं। इस कारण वे अपने विमान से ही, केवली जो उत्तर देते हैं उसे जानते और देखते हैं।

टीकाकार ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि अनुत्तरविमानवासी देवों का अवधिज्ञान सकल लोकनाड़ी को विषय करता है और इसलिये उससे मनोद्रव्यवर्गणाएं भी जानी जा सकती हैं। लोक के संख्यात भाग को विषय करने वाला अवधि भी मनोद्रव्यग्राही माना गया है तो सकल लोकनाड़ी को जानने वाला अवधिज्ञान मनोद्रव्य वर्गणाएं ग्रहण करे, इसमें क्या विशेषता है?

इस प्रकार अनुत्तरविमानवासी देव मनोद्रव्य को ग्रहण करने वाले अवधिज्ञान द्वारा अपने विमान से ही केवली के उत्तर जानते हैं।

(८) प्रश्न–मनःपर्ययज्ञान का विषय क्या है?

उत्तर–मनःपर्ययज्ञान का विषय द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से चार प्रकार का कहा गया है। द्रव्य की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञानी संज्ञी जीवों के, काययोग से ग्रहण कर मनोयोग द्वारा मन रूप में परिणत हुए मनोद्रव्य को जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा वह मनुष्यक्षेत्र के अन्दर रहे हुए संज्ञी जीवों के उक्त मनोद्रव्य जानता है। काल की अपेक्षा वह मनोद्रव्य की पर्यायों को भूत और भविष्य काल में पल्योपम के असंख्यात भाग तक जानता है। भाव की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञानी द्रव्यमन की चिन्तनपरिणत रूपादि अनन्त पर्यायों को जानता है। परन्तु भावमन की पर्याय मनःपर्ययज्ञान का विषय नहीं है। भावमन ज्ञानरूप है और ज्ञान अमूर्त है इसलिए वह छद्मस्थ के ज्ञान का विषय नहीं है। मनःपर्ययज्ञानी चिन्तन परिणत द्रव्यमन की पर्यायों को साक्षात् जानता है किन्तु चिन्तन की विषयभूत घटादि वस्तुओं को वह मनःपर्ययज्ञान द्वारा साक्षात् नहीं जान सकता। मनोद्रव्य की पर्याय को जानकर वह अनुमान करता है–चूँकि मनोद्रव्य इस प्रकार विशिष्ट रूप से

परिणत हुए हैं इसलिए इनकी चिन्तनीय वस्तु यह होनी चाहिए। इस प्रकार अनुमान द्वारा वह चिन्तनीय घटादि वस्तुएं जानता है।

(विशेषावश्यक भाष्य गाथा ८१३ से ८१४)

(९) प्रश्न–शास्त्रों में मनःपर्ययदर्शन नहीं कहा गया है, फिर नन्दी सूत्र में मनःपर्ययज्ञान के वर्णन में सूत्रकार ने 'अनन्तप्रदेशी स्कन्ध जानता है और देखता है' यह कैसे कहा ?

उत्तर–मनःपर्ययज्ञान विशिष्ट क्षयोपशम से होने के कारण वस्तु को विशेष रूप से ही ग्रहण करता है पर सामान्य रूप से ग्रहण नहीं करता। यही कारण है कि मनःपर्ययदर्शन नहीं माना गया है। नन्दीसूत्र की टीका में टीकाकार ने सूत्रकार के 'देखता है' शब्दों का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है--

मनःपर्ययज्ञानी मनोद्रव्यों द्वारा चिन्तित घटादि साक्षात् नहीं जानता किन्तु 'यदि ये पदार्थ चिन्तन के विषय न होते तो मनोद्रव्यों की इस प्रकार विशिष्ट परिणति नहीं होती' इस प्रकार अनुमान द्वारा जानता है और वहाँ मनःकारणक अचक्षुदर्शन होता है। इस अचक्षुदर्शन की अपेक्षा सूत्रकार ने 'मनःपर्ययज्ञानी देखता है' इस प्रकार कहा है। यही बात चूर्णिकार ने भी कही है—

मुणियत्थं पुण पचक्खओ न पेक्खइ, जेण मणोदव्वालंबणं मुत्तममुत्तं वा, सो य छउमत्थो तं अणुमाणओ पेक्खइ, अओ पासणिया भणिया।

भावार्थ–मनःपर्ययज्ञानी चिन्तित अर्थ को प्रत्यक्ष से नहीं देखता है क्योंकि मनोद्रव्य का विषय मूर्त अथवा अमूर्त होता है। मनःपर्ययज्ञानी छद्मस्थ है इसलिये वह उसे अनुमान से देखता है इसीलिये मनःपर्ययज्ञानी के लिये देखना कहा गया है।

विशेषावश्यक भाष्य में भी इसका स्पष्टीकरण इसी प्रकार किया गया है। जैसे कई आचार्यों के मत से श्रुतज्ञानी अचक्षुदर्शन

से देखता है उसी प्रकार मनःपर्ययज्ञानी भी अचक्षुदर्शन द्वारा देखता है। मनःपर्ययज्ञानी घटादि अर्थ का चिन्तन करते हुए व्यक्ति के मनोद्रव्य मनःपर्ययज्ञान द्वारा साक्षात् जानता है और उसके बाद उसके मानस अचक्षुदर्शन उत्पन्न होता है और उसके द्वारा वह उन्हीं का विकल्प करता है। इस अचक्षुदर्शन की अपेक्षा ही यह कहा जाता है कि मनःपर्ययज्ञानी देखता है।

नन्दी सूत्र के टीकाकार ने इसका दूसरी तरह से भी स्पष्टीकरण किया है। सामान्य रूप से क्षयोपशम के एकरूप होने पर भी बीच में द्रव्यों की अपेक्षा क्षयोपशम के विशेष होने का सम्भव है। इसलिये अनेक तरह का उपयोग हो सकता है। जैसे इसी मनःपर्ययज्ञान में ऋजुमति विपुलमति रूप दो तरह का उपयोग है। यही कारण है कि मनोद्रव्य के विशिष्टतर आकार के ज्ञान की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञानी के लिये 'जानता है' यह कहा जाता है और मनोद्रव्य के सामान्य आकार को जानने की अपेक्षा 'वह देखता है' इस प्रकार कहा जाता है। इस प्रकार मनोद्रव्य के विशिष्टतर आकार-ज्ञान की अपेक्षा मनोद्रव्य का सामान्य आकार का ज्ञान व्यवहार से दर्शन कहा गया है, वास्तव में तो वह भी ज्ञान ही है। यही कारण है कि सूत्र में चार ही प्रकार का दर्शन कहा गया है, पाँच प्रकार का नहीं। वास्तव में मनःपर्ययदर्शन सम्भव नहीं है।

नोट—विशेषावश्यक भाष्य में इस सम्बन्ध में और भी मन्तव्य दिये हैं जैसे मनःपर्ययज्ञानी अवधिदर्शन से देखता है, विभंगदर्शन जैसे अवधिदर्शन में अन्तर्भूत है वैसे मनःपर्ययदर्शन भी अवधिदर्शन में अन्तर्भूत है आदि। पर ये मन्तव्य सिद्धान्त सम्मत नहीं हैं।

(नन्दी सूत्र टीका मनःपर्ययज्ञानाधिकार) (विशेषावश्यक भाष्य गाथा ८१५)

(१०) प्रश्न यदि इन्द्रिय और मनःकारणक सामान्य अर्थ को विषय करने वाला ज्ञान दर्शन है, तो फिर चक्षुदर्शन और

अचक्षुदर्शन ये दो ही भेद कैसे किये हैं? चक्षु की तरह श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ भी दर्शन में कारण हैं और इस प्रकार पाँच इन्द्रिय और मन से होने वाले छः दर्शन होते हैं न कि दो ही।

उत्तर-वस्तु सामान्य विशेष रूप होती है। कहीं उसका सामान्य रूप से कथन होता है और कहीं विशेष रूप से। यहाँ चक्षुदर्शन विशेष रूप से और अचक्षुदर्शन सामान्य रूप से कहा गया है। इन्द्रिय के प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दो भेद मान कर, इनसे होने वाले दर्शन के भी ये दो भेद किये गये हैं और इसलिये अन्य प्रकार से कहना सम्भव नहीं है। यद्यपि मन अप्राप्यकारी है किन्तु मन का अनुसरण करने वाली प्राप्यकारी इन्द्रियाँ बहुत हैं इसलिये मन विषयक दर्शन भी अचक्षुदर्शन शब्द से ग्रहण किया गया है। (भगवती सूत्र पहला शतक तीसरा उद्देशा टीका)

(११) प्रश्न-सामायिक से ही सभी गुण प्राप्त हो जाते हैं फिर सर्वविरति रूप सामायिक वाले को पोरिसी आदि के प्रत्याख्यानों की क्या आवश्यकता है?

उत्तर-सर्वविरतिरूप सामायिक वाले को भी अप्रमाद की वृद्धि के लिये पोरिसी आदि प्रत्याख्यान करना चाहिये। कहा भी है-

सामाइए वि हु सावज्जचागरूवे उ गुणकरे एयं।
अप्पमायवुड्ढि जणगत्तणेण आणाओ विण्णेयं ॥

भावार्थ-सावद्यत्याग रूप सामायिक होने पर भी ये पोरिसी आदि के प्रत्याख्यान गुणकारी हैं क्योंकि ये अप्रमाद को बढ़ाने वाले हैं। ऐसा भगवान् की आज्ञा से समझना चाहिए।

(भगवती सूत्र पहला शतक तीसरा उद्देशा टीका)

(१२) प्रश्न-क्या साधु के सत्यवचन में विवेक होना चाहिये?

उत्तर-सूत्रकृताङ्ग सूत्र के वीरस्तुति नामक छठे अध्ययन में कहा गया है-'सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति' अर्थात् सत्य वचन

में भी दूसरों को दुःख न पहुंचाने वाला निरवद्य वचन प्रधान है। साधु को सावद्य सत्य का त्याग कर निरवद्य सत्य कहना चाहिये। प्रश्नव्याकरण सूत्र के दूसरे संवर द्वार में सत्य की महिमा कह कर आगे यह बतलाया है कि ऐसा सत्य न कहना चाहिये जो संयम में थोड़ा सा भी बाधक हो। जिन वचनों से प्राणी की हिंसा होती हो ऐसे वचन साधु को न कहना चाहिये। काणे को काणा, चोर को चोर कहने से सामने वाले को दुःख होता है इसलिये ऐसा पापकारी सावद्य सत्य भी न कहना चाहिये। चारित्र का विनाश करने वाली स्त्री आदि की विकथाएं भी उसे न करनी चाहिये। व्यर्थ का वाद और कलह तथा अनार्य वचनों का प्रयोग भी उसे न करना चाहिये। अपवाद (दूसरे के दूषण प्रगट करना) और विवाद करना साधु के लिये मना है। दूसरे की विडम्बना करने वाले तथा बल एवं ढिठाई प्रधान वचन साधु को टालना चाहिये एवं निर्लज्ज तथा निन्दनीय शब्दों का व्यवहार न करना चाहिये। जो बात अच्छी तरह से देखी सुनी और जानी न हो वह भी साधु को न कहनी चाहिये। अपनी प्रशंसा और दूसरे की निन्दा भी न करनी चाहिये। जाति, कुल, बल, रूप, श्रुत, दान, धर्म आदि की अपेक्षा दूसरे की हीनता प्रगट हो ऐसे दुःखकारी शब्द भी साधु को न कहना चाहिये।

(१२) प्रश्न—क्या साधु के लिये ग्लान साधु की सेवा करना आवश्यक है या उसकी इच्छा पर निर्भर है?

उत्तर—वैयावृत्त्य आभ्यन्तर तप है। भगवती सूत्र के पचीसवें शतक के सातवें उद्देशे में वैयावृत्त्य के दस प्रकार दिये हैं उनमें एक प्रकार ग्लान की वैयावृत्त्य का है। ओघनियुक्ति में ग्लान द्वार में कहा है कि 'कुज्जा गिलाणगस्स उ पढमालिय जाव बहिगमणं' अर्थात् ज्यों ही साधु प्रथम भिक्षा लाने यावत् बाहर जाने में समर्थ हो जाय

कि ग्लान साधु की सेवा करे। इसी ग्रन्थ में आगे कहा है कि साधु को सभी प्रयत्नों से ग्लान साधु की सेवा करनी चाहिये।

जइ ता पासत्थोसण्णकुसीलनिण्हवगाणंवि देसिअं करणं।
चरणकरणालसाणं सब्भाव परंमुहाणं च ॥ ४८ ॥
किं पुण जयणाकरणुज्जयाण दंतिंदिआण गुत्ताणं।
संविग्गविहारीणं सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥ ४९ ॥

भावार्थ--जब चरण करण में प्रमादाचरण करने वाले सद्भाव-विमुख पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और निह्नवों की वैयावृत्त्य करने के लिये भी कहा गया है तो फिर यतना में सावधान, जितेन्द्रिय, मन वचन काया का गोपन करने वाले उद्यतविहारी मोक्षाभिलाषी साधु की वैयावृत्त्य तो सभी प्रयत्न करके करना ही चाहिये।

इससे यह स्पष्ट है कि ग्लान साधु की सेवा करना मुनि के लिये आवश्यक है पर जब हम देखते हैं कि शास्त्रकारों ने वैयावृत्त्य न करने या उसकी उपेक्षा करने से अनेक दोष एवं प्रायश्चित्त बतलाये हैं तो यह सिद्ध होता है कि यह आवश्यक कर्त्तव्य है और शास्त्रकारों ने उसे मुनि की इच्छा पर नहीं छोड़ा है।

बृहत्कल्प सूत्र के निर्युक्ति भाष्य में ग्लान की बात सुन उसकी वैयावृत्त्य न कर उसे टालने की इच्छा वाले साधु के लिये यह कहा है-

सोऊण उ गिलाणं उम्मग्गं गच्छ पडिवहं वावि।
मग्गाओ वा मग्गं संकमइ आणमाईणि ॥ १८७१ ॥

भावार्थ--जो साधु स्वगच्छ या परगच्छ में किसी साधु की ग्लानावस्था का हाल सुन कर (वैयावृत्त्य से बचने के ख्याल से) अटवी की ओर जाने वाला रास्ता ग्रहण करता है अथवा जिस रास्ते से आया उसी तरफ वापिस लौट जाता है अथवा एक रास्ता छोड़ कर दूसरे मार्ग से जाने लगता है उसे आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना दोष लगते हैं।

इतना ही नहीं बल्कि सेवा न होने से ग्लान साधु को जो परिताप आदि होते हैं उनके लिये भी वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

सोऊण ऊ गिलाणं पंथे गामे य भिक्खवेलाए ।
जइ तुरियं नागच्छइ लग्गइ गुरुए स चउम्मासे ॥१८७२॥

भावार्थ–रास्ते में जाते हुए, गाँव में प्रवेश करते हुए अथवा गोचरी में फिरते हुए साधु को यदि किसी मुनि की ग्लानावस्था की सूचना मिले और वह तुरन्त ही उसके पास न पहुँचे तो उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

साधु की ग्लानावस्था की खबर पाकर जो साधु उसकी उपेक्षा करता है उसे भी प्रायश्चित्त बतलाया है।

जो उ उवेहं कुज्जा लग्गइ गुरुए सवित्थारे ॥ १८७५ ॥

जो साधु की ग्लानता सुन कर भी उसकी उपेक्षा करता है उसे सविस्तर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के छब्बीसवें समाचारी अध्ययन में साधु की दिनचर्या बतलाई है। उसमें वैयावृत्त्य विषयक जो गाथाएं दी हैं उनसे भी यही मालूम होता है कि वैयावृत्त्य साधु के लिये आवश्यक कर्त्तव्य है और स्वाध्याय से भी प्रधान है। गाथाएं इस प्रकार हैं–

पुव्विल्लम्मि चउब्भाए, आइच्चम्मि समुट्ठिए ।
भंडयं पडिलेहित्ता, वंदित्ता य तओ गुरुं ॥
पुच्छिज्जा पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इहं ।
इच्छं निओइउं भंते, वेयावच्चे व सज्झाए ।
वेयावच्चे निउत्तेणं, कायव्वमगिलायओ ॥

भावार्थ सूर्योदय होने पर पहली पहर के चौथे भाग में वस्त्र-पात्रादि की प्रतिलेखना करे और गुरु को वन्दना करके हाथ जोड़ कर यह पूछे कि भगवन्! मुझे क्या करना चाहिये? आप चाहें तो मुझे वैयावृत्त्य में लगा दीजिये अथवा स्वाध्याय में। गुरुदेव

द्वारा वैयावृत्य में नियुक्त किये जाने पर साधु को ग्लानिभाव का त्याग कर वैयावृत्य करनी चाहिये।

वैयावृत्य करना साधु के लिये जितना आवश्यक है उसका उतना ही अधिक माहात्म्य भी है। उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में वैयावृत्य का फल बतलाते हुए कहा है-

वेयावच्चेण भंते ! जीवे किं जणयइ ? तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबन्धइ ।

हे भगवन् ! वैयावृत्य से जीव को क्या फल होता है ? वैयावृत्य से जीव तीर्थङ्कर गोत्र बाँधता है।

ओघनियुक्ति के टीकाकार ने गाथा ६७ की टीका में ग्लान साधु की सेवा की महत्ता दिखाने के लिये यह गाथा उद्धृत की है-

जो गिलाणं पडियरइ, सो ममं पडियरइ ।
जो ममं पडियरइ, सो गिलाणं पडियरइ ॥

अर्थ- भगवान् कहते हैं जो ग्लान साधु की सेवा करता है वह मेरी सेवा करता है और जो मेरी सेवा करता है वह ग्लान साधु की सेवा करता है।

सनियुक्तिक लघु भाष्य वृत्तिक वृहत्कल्प सूत्र में ग्लान की सेवा के सम्बन्ध में कहा है—

तित्थाणुसज्जणा खलु भत्ती य कया हवइ एवं ॥१८७८॥

भावार्थ-इस प्रकार ग्लान और उसकी वैयावृत्य करने वाले साधुओं की वैयावृत्य करने से तीर्थ की अनुवर्त्तना होती है और तीर्थङ्कर देव की भक्ति होती है। वृत्तिकार ने ग्लानसेवा की महिमा दिखाने के लिये यह उद्धरण दिया है—

जो गिलाणं पडियरइ से ममं णाणेणं दंसणेणं चरित्तेणं पडिवज्जइ ।

अर्थ-जो ग्लान की सेवा करता है वह मुझे ज्ञान दर्शन चारित्र

द्वारा प्राप्त करता है।

इससे स्पष्ट है कि ग्लान साधु की सेवा परिचर्या तीर्थङ्कर देव की भक्ति के बराबर है और इससे ज्ञान दर्शन चारित्र की आराधना होकर भगवान् की आज्ञा की आराधना होती है।

वैयावृत्य की महत्ता दिखाने के लिये ओघनिर्युक्तिकार की दो गाथाएं उद्धृत की जाती हैं--

वेयावच्चं नियय करेह, उत्तर गुणे धरिंताणं ।
सव्वं किल पडिवाई, वेयावच्चं अपडिवाई ॥५३२॥
पडिभग्गस्स मयस्स वा, नासइ चरणं सुयं अगुणाए ।
न हु वेयावच्चचिअं, सुहोदयं नासए कम्मं ॥५३३॥

भावार्थ--उत्तम गुण धारण करने वाले साधुओं की निरन्तर वैयावृत्य करो । सभी प्रतिपाती हैं किन्तु वैयावृत्य अप्रतिपाती है। संयम से गिर जाने एवं मृत्यु होने पर चारित्र नष्ट हो जाता है। नहीं फेरने से शास्त्र ज्ञान विस्मृत हो जाता है किन्तु वैयावृत्य से अर्जित शुभ फल देने वाले कर्मों का कभी विनाश नहीं होता।

(१४) प्रश्न--विजय आदि चार अनुत्तरविमानों में उत्पन्न हुआ जीव क्या नरक तिर्यञ्च के भव करता है ?

उत्तर-प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें पद के दूसरे उद्देशे की टीका में कहा है कि विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित विमानों में उत्पन्न हुआ जीव वहाँ से निकल कर कभी भी नरक तिर्यञ्च में तथा व्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न नहीं होता। केवल मनुष्य और सौधर्म आदि वैमानिक देवों में ही जाता है। टीका यह है--

इह विजयादिषु चतुर्षु गतो जीवो नियमात् तत उद्वृत्तो न जातुचिदपि नैरयिकादि पञ्चेन्द्रियतिर्यक् पर्यवसानेषु तथा व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु च मध्ये समागमिष्यति तथास्वाभाव्यात्, मनुष्येषु सौधर्मादिषु चागमिष्यति ।

भावार्थ–विजयादि चार अनुत्तरविमानों में गये हुए जीव के लिये यह नियम है कि वह वहाँ से निकलकर स्वभाव से ही नरक से लेकर तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय तक तथा व्यन्तर ज्योतिषी देवों में कभी नहीं आवेगा पर मनुष्य तथा सौधर्मादि विमानों में आवेगा।

(१५) प्रश्न–अभव्य जीव ऊपर कहाँ तक उत्पन्न होते हैं?

उत्तर–अभव्य जीव ऊपर नवग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं। प्रवचनसारोद्धार १६० द्वार में कहा है कि मिथ्यादृष्टि भव्य एवं अभव्य जीव जिनोक्त व्रत, अष्टमादि उत्कृष्ट तप तथा प्रतिलेखनादि दैनिक क्रियाओं का आचरण कर उत्कृष्ट ग्रैवेयक तथा जघन्य भवनपति देवों में उत्पन्न होते हैं। चारित्र परिणाम से रहित होने के कारण उक्त अनुष्ठान करते हुए भी ये जीव असंयती ही हैं।

भगवती सूत्र के पहले शतक के दूसरे उद्देशे में देवत्व योग्य असंयती जीवों की उत्पत्ति जघन्य भवनपति उत्कृष्ट ऊपर के ग्रैवेयक में कही है। टीकाकार ने व्याख्या करते हुए कहा है कि यहाँ असंयती से श्रमण-गुणधारी साधु की समाचारी और उसके अनुष्ठानों का पालन करने वाले द्रव्यलिंगधारी मिथ्यादृष्टि भव्य अथवा अभव्य जीव समझने चाहिये। ये जीव साधु की पूर्ण क्रिया पालने के कारण ही ऊपर के ग्रैवेयक में उत्पन्न होते हैं। चारित्र परिणाम से शून्य होने के कारण साधुयोग्य अनुष्ठान करते हुए भी उन्हें असंयत कहा है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि ऐसे जीव किस प्रकार श्रमणगुणों के धारक हो सकते हैं? समाधान में टीकाकार ने कहा है कि यद्यपि उनके महामिथ्यादर्शन रूप मोह की प्रबलता है फिर भी राजा महाराजा चक्रवर्ती आदि से साधु महात्माओं का प्रवर पूजा सत्कार होते देख कर उन्हें प्रव्रज्या एवं साधु के क्रिया अनुष्ठानों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है और उक्त पूजा सत्कार आदि पाने के लिये ये श्रमण गुणधारी होकर उक्त क्रियानुष्ठानों का पालन करते हैं।

(१६) प्रश्न– ग्राम आकर यावत् सन्निवेशों में कई मनुष्य अल्प आरम्भ वाले, अल्प परिग्रह वाले, धार्मिक, धर्म का अनुगमन करने वाले, धर्मप्रिय , धर्म के उपदेशक, धर्म को उपादेय समझने वाले, धर्म में अनुराग रखने वाले, हर्षित होकर धर्म का आचरण करने वाले,धर्मानुकूल कार्यों द्वारा आजीविका कमाने वाले, शोभन मनोवृत्ति वाले और साधु का दर्शन कर आनन्दित होने वाले होते हैं। वे प्राणातिपात आदि पापस्थानों से जीवनपर्यन्त देशतः विरत होते हैं और देशतः अविरत होते हैं। राजाभियोग आदि कारणों से अन्यतीर्थियों को वन्दनादि करने का आगार रखकर वे जीवन भर के लिये मिथ्यादर्शन शल्य से विरत होते हैं। आरंभ समारंभ, करना कराना, पचन, पाचन, कूटना, पीटना, तर्जना ताड़ना देना तथा वध,बन्ध और क्लेश का वे यावज्जीवन देशतः त्याग किये होते हैं और देशतः इनसे अनिवृत्त होते हैं । स्नान, मालिश, वर्णक (सुगन्धित चूर्ण), विलेपन, शब्द, स्पर्श, रस, रूप गन्ध, माल्य और अलंकार से भी वे जीवनपर्यन्त देशतः विरत होते हैं और देशतः अविरत होते हैं । इस प्रकार कषायकारणक सावद्य योग वाले, दूसरों को परिताप देने वाले व्यापारों से वे जीवन भर के लिये एक देश से निवृत्त होते हैं और एक देश से अनिवृत्त होते हैं। ये श्रमणोपासक श्रावक जीव, अजीव और पुण्य पाप के जानकार, आश्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण बन्ध और मोक्ष के हेयोपादेय स्वरूप के ज्ञाता होते हैं। कर्मवाद पर दृढ़ श्रद्धा होने से वे आपत्ति में भी दूसरे की सहायता नहीं चाहते। भवनपति व्यन्तर आदि देव भी उन्हें निर्ग्रन्थ प्रवचन से चलित नहीं कर सकते। निर्ग्रन्थ प्रवचन में वे शंका काँक्षा और विचिकित्सा रहित होते हैं । सिद्धान्त का अर्थ उनका जाना हुआ एवं धारा हुआ होता है। संदिग्ध विषय उनके पूछे हुए एवं निर्णीत

होते हैं और शास्त्रों का रहस्य उन्हें अवगत होता है। निर्ग्रन्थ प्रव-
चन के अनुराग में उनके अस्थि एवं मज्जा तक रंगे होते हैं। इसी
उत्कृष्ट अनुराग से प्रेरित हो वे निर्ग्रन्थ प्रवचन को ही अर्थ एवं
परमार्थ बतलाते हैं और शेष सभी उनके लिये अनर्थ रूप हैं। वे
इतने उदार होते हैं कि याचकजनों के खातिर वे किवाड़ों में भोगल
नहीं लगाते बल्कि दरवाजे खुले रखते हैं। उनका किसी के घर एवं
अन्तःपुर में प्रवेश करना उस घर के लोगों के लिये प्रीतिकारी होता
है। अष्टमी, चतुर्दशी और अमावस्या तथा पूर्णिमा को वे प्रतिपूर्ण
पौषध व्रत की आराधना करते हैं। श्रमण निर्ग्रन्थों का संयोग
मिलने पर वे उन्हें अशन पान खादिम स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल,
रजोहरण, औषध, भेषज तथा पडिहारी पीठ, फलक, शय्या, संस्ता-
रक–ये चौदह प्रकार की वस्तुओं का दान देते हैं। उपरोक्त गुणों
से विशिष्ट ये श्रावक अन्त समय में आलोचना प्रतिक्रमण पूर्वक
संथारा कर समाधि सहित काल कर के कहाँ उत्पन्न होते हैं?

उत्तर–उपरोक्त गुण वाले श्रावक काल प्राप्त कर उत्कृष्ट बार-
हवें अच्युत देवलोक में उत्पन्न होते हैं। वहाँ उनकी बाईस साग-
रोपम की उत्कृष्ट स्थिति होती है। उन देवताओं के ऋद्धि (पारि-
वारिक सम्पत्ति), द्युति, यश, बल, वीर्य एवं पुरुषाकार पराक्रम
होते हैं। ये देवता परलोक के आराधक हैं अर्थात् देव भव की
स्थिति पूर्ण होने के बाद वे दूसरा जन्म मोक्ष साधनों के अनु-
कूल प्राप्त करते हैं। (औपपातिक सूत्र ४१)

(१७) प्रश्न–ग्राम आकर यावत् सन्निवेशों में कई मनुष्य ऐसे
होते हैं जो आरम्भ परिग्रह से रहित, धार्मिक, सुशील, सुव्रत
वाले एवं साधुजन को देखकर प्रमुदित होने वाले होते हैं। वे प्राणा-
तिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य रूप अठारह पापस्थानों से सर्वथा
विरत होते हैं। सभी आरम्भ समारम्भ, कृत कारित, पचन पाचन,

कूटना, पीटना, तर्जना, ताड़ना और वध, वन्ध तथा क्लेश से वे निवृत्त होते हैं। स्नान, मर्दन, वर्णक, विलेपन, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं गन्ध माल्य तथा अलंकार का उन्हें सर्वथा त्याग होता है। इस प्रकार कषायकारणक, सावद्य योग वाले, परपरितापकारी व्यापारों से सर्वथा विरत हुए ये अनागार ईर्यासमिति भाषासमिति आदि से युक्त यावत् इसी निर्ग्रन्थ प्रवचन की आराधना को ही अपना उद्देश्य बना कर और सदा इसी को सन्मुख रख कर विचरते हैं। उक्त गुणों वाले ये अनगार महात्मा इस भव की स्थिति पूरी कर कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर—उक्त गुण विशिष्ट अनगार महात्माओं में से कुछेक को अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान केवलदर्शन प्रगट होते हैं। वे अनेक वर्षों तक केवलीपर्याय का पालन कर अनशन द्वारा बहुत से भक्त (आहार) का छेदन करते हैं और जिस उद्देश्य से मुनिदीक्षा धारण की थी उसे पूर्ण कर सभी कर्मों का नाश कर मुक्त हो जाते हैं।

जिन मुनि महात्माओं को केवलज्ञान केवलदर्शन प्रगट नहीं होते। वे अनेक वर्षों तक छद्मस्थपर्याय का पालन करते हैं। अन्त में रोगादि होने से अथवा यों ही भक्त का त्याग करते हैं। अनशन द्वारा बहुत से भक्तों का छेदन कर एवं जिस प्रयोजन से प्रव्रज्या धारण की थी उसकी आराधना कर वे चरम श्वासोच्छ्वास में अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण केवल ज्ञान केवलदर्शन प्राप्त करते हैं एवं सिद्ध, बुद्ध, यावत् मुक्त होते हैं।

कई मुनि जिनके पूर्व कर्म शेष रह जाते हैं वे संलेखना संथारा पूर्वक काल के अवसर काल कर उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देव होकर उत्पन्न होते हैं। वहाँ उनके तेतीस सागरोपम की स्थिति होती है। ये परलोक के आराधक होते हैं। (औपपातिक सूत्र ४१)

(१८) प्रश्न–ग्राम आकर यावत् सन्निवेशों में कई मनुष्य ऐसे होते हैं जो सभी शब्दादि कामों से विरत होते हैं एवं सभी प्रकार के राग-भाव से निवृत्त होते हैं । माता पितादि सम्बन्ध एवं तन्निमित्तक स्नेह से वे परे होते हैं । क्रोधादि कषायों को वे विफल एवं क्षीण कर देते हैं एवं क्रमशः आठ कर्मों का क्षय करते हैं । ये महात्मा पुरुष यहाँ की स्थिति पूरी कर कहाँ जाते हैं ?

उत्तर–उक्त गुण सम्पन्न महात्मा सभी कर्मों का क्षय कर ऊपर लोकाग्रस्थित सिद्धस्थान में विराजते हैं । (औपपातिक सूत्र ४१)

(१९) प्रश्न–जलचर, स्थलचर, खेचर आदि पर्याप्त संज्ञी तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय जीवों में से कई जीवों को शुभ परिणाम एवं अध्यवसाय और लेश्या की विशुद्धि से तथा ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने से ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करते हुए जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिससे वे अपने संज्ञी अवस्था में किये हुए पूर्वभव देखने लगते हैं । वे स्वयमेव पाँच अणुव्रत को अङ्गीकार करते हैं और त्याग प्रत्याख्यान शीलव्रत गुणव्रत तथा पौषधोपवास का आचरण करते हुए अपना जीवन बिताते हैं । अन्तिम समय में आलोचना और प्रतिक्रमण करके अनशन द्वारा भक्त का छेदन कर समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त होते हैं । वे कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर–उपरोक्त तिर्यञ्च काल करके आठवें सहस्रार देवलोक में उत्पन्न होते हैं । वहाँ उनकी अठारह सागरोपम की स्थिति होती है । वे पारिवारिक सम्पत्ति, यश आदि से सम्पन्न होते हैं । वे परलोक के आराधक होते हैं । (औपपातिक सूत्र ४१)

(२०) प्रश्न– 'मिच्छत्तं जमुदिण्णं तं खीणं अणुदियं च उवसंतं' अर्थात् उदय में आये हुए मिथ्यात्व का क्षय होना एवं अनुदीर्ण मिथ्यात्व का शान्त होना क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप

है। औपशमिक सम्यक्त्व का भी यही स्वरूप है । जैसे कि-

खीणम्मि उइण्णंम्मि अणुदिज्जंते य सेस मिच्छत्ते ।
अंतोमुहुत्तमेत्तं उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥

भावार्थ-उदय प्राप्त मिथ्यात्व के क्षीण होने और शेष मिथ्यात्व के शान्त होने पर जीव अन्तर्मुहूर्त के लिये उपशम सम्यक्त्व पाता है।

इस प्रकार दोनों सम्यक्त्व का एकसा स्वरूप है फिर दोनों को अलग मानने का क्या कारण है ?

उत्तर-क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में उदय आये हुए मिथ्यात्व का क्षय होता है, अनुदीर्ण मिथ्यात्व का विपाकानुभव की अपेक्षा उपशम होता है एवं प्रदेशानुभव की अपेक्षा उसका उदय रहता है । किन्तु उपशम सम्यक्त्व में तो अनुदीर्ण मिथ्यात्व का उपशम ही होता है । इस सम्यक्त्व में प्रदेशानुभव कतई नहीं होता । यही दोनों में अन्तर है । कहा भी है—

वेएइ संतकम्मं खओवसमिएसु णाणुभावं सो ।
उवसंत कसाओ पुण वेएइ ण संतकम्मं ॥

भावार्थ-क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में जीव सत्कर्म का वेदन करता है । वह विपाक का अनुभव नहीं करता । उपशान्त कषाय वाला तो सत्कर्म को भी नहीं वेदता है । (भगवती सूत्र श० १ उ० ३ टीका)

(२१) प्रश्न-सामायिक का स्वरूप सर्व सावद्य का त्याग है और छेदोपस्थापनीय का स्वरूप भी यही है क्योंकि महाव्रत सावद्य-विरति रूप होते हैं । फिर ये भिन्न क्यों कहे गये हैं ?

उत्तर-प्रथम एवं चरम तीर्थङ्कर के साधु क्रमशः ऋजु (सरल) एवं वक्रजड़ होते हैं । उनके आश्वासन के लिये चारित्र के ये दो भेद कहे गये हैं । यदि चारित्र के ये दो भेद न होते और केवल सामायिक चारित्र का ही विधान होता तो इन साधुओं को कोई आश्वासन न रहता । सामायिक चारित्र स्वीकार करने के बाद

उसमें थोड़ा सा दोष लगने से वे सोचते कि हमारा चारित्र ही नष्ट हो गया, हम भ्रष्ट हो गये और इस प्रकार वे व्याकुल हो उठते। छेदोपस्थापनीय चारित्र का विधान होने से इन साधुओं के आगे ऐसा मौका आने की सम्भावना नहीं है। व्रतों के आरोपण के बाद सामायिक के अशुद्ध हो जाने पर भी व्रतों के अखण्डित रहने से वे अपने को चारित्रवान् समझते हैं क्योंकि चारित्र व्रतरूप भी होता है। कहा भी है—

रिउ वक्कजडा पुरिमेयराण सामाइए वयारुहणं।
मणयमसुद्धेऽवि जओ सामाइए हुंति हु वयाइ ॥

भावार्थ-प्रथम और चरम तीर्थङ्करों के साधु क्रमशः ऋजु और वक्रजड़ होते हैं। उनके लिये सामायिक के बाद व्रतों का आरोपण कहा है। सामायिक में थोड़ा दोष लग जाने पर भी उनके व्रत बने रहते हैं, उनमें कोई बाधा नहीं आती। (भगवती श० १ उ० ३ टीका)

नोट—सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र का स्वरूप इसी ग्रन्थ के पहले भाग में बोल नम्बर ३१५ में दिया गया है।

(२२) प्रश्न-प्रथम एवं अन्तिम तीर्थङ्करों के प्रवचन में पाँच महाव्रत रूप धर्म बतलाया है एवं बीच के बाईस तीर्थङ्करों के प्रवचन में चार महाव्रत रूप धर्म कहा गया है। परस्पर विरोध रहित सर्वज्ञ के वचनों में यह विरोध क्यों है?

उत्तर-पहले तीर्थङ्कर के साधु ऋजु जड़ होते हैं और चरम तीर्थङ्कर के साधु वक्रजड़ होते हैं जब कि मध्यम तीर्थङ्करों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं। ऋजुप्राज्ञ साधु सरल एवं बुद्धिशाली होते हैं। वे वक्ता के आशय को ठीक समझ कर सरल होने से तदनुसार प्रवृत्ति करते हैं। चार महाव्रत रूप धर्म में पाँचवें महाव्रत का भी समावेश है यह समझ कर वे उसका भी पालन करते हैं। इसके विपरीत ऋजुजड़ शिष्य पूरा स्पष्टीकरण न होने से पूरी तौर

से समझते नहीं है और इसलिये उसका पालन करना भी उनके लिये कठिन है । वक्रजड़ शिष्य पूरा स्पष्टीकरण न होने से अपनी वक्रता के कारण कुतर्क करते हैं और वक्ता के आशय के अनुसार यथावत् कार्य नहीं करते । यही कारण है कि उनके लिये पाँच महाव्रत रूप धर्म का विधान किया गया है। इस प्रकार विचित्र प्रज्ञा वाले शिष्यों के अनुग्रह के लिये धर्म दो प्रकार का कहा गया है, वैसे वस्तु स्वरूप में कोई भेद नहीं है। चार महाव्रत रूप धर्म भी पाँच महाव्रत रूप ही है। ब्रह्मचर्य रूप चौथे महाव्रत का यहाँ परिग्रहविरमण में समावेश किया गया है। परिगृहीत स्त्री का ही भोग होता हैं, अपरिगृहीत का नहीं। स्त्री भी परिग्रह रूप है और परिग्रह के त्याग से स्त्री का भी त्याग हो ही जाता है।
(भगवती पहला शतक तीसरा उद्देशा टीका) (उत्तराध्ययन २३ अध्ययन)

(२३) प्रश्न–मोहनीय कर्म वेदता हुआ जीव क्या मोहनीय कर्म बाँधता है या वेदनीय कर्म बाँधता है ?

उत्तर–मोहनीय कर्म वेदता हुआ जीव मोहनीय कर्म बाँधता और वेदनीय कर्म भी बाँधता है । सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में लोभ का सूक्ष्म अंश वेदता हुआ जीव वेदनीय कर्म बाँधता है, मोहनीय कर्म नहीं बाँधता क्योंकि सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानवर्ती जीव के मोहनीय और आयु इन दो कर्मों को छोड़ कर शेष छः कर्मों का ही बन्ध होता है । (औपपातिक सूत्र ३८)

(२४) प्रश्न–जीव हल्का और भारी किस प्रकार होता है ?

उत्तर–भगवती सूत्र के प्रथम शतक के नवें उद्देशे में ऐसे ही प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि अठारह पापस्थानों का आचरण करने से जीव अशुभ कर्म का उपार्जन कर भारी होता है और फलतः नीच गति में जाता है । अठारह पापस्थानों का त्याग करने से जीव हल्का होता है एवं वह ऊर्ध्व गति प्राप्त करता है।

नोट—अठारह पापस्थानों का स्वरूप इसी ग्रन्थ के पाचवें भाग में बोल नं० ८९५ में दिया गया है।

(२५) प्रश्न—ईर्यासमिति पूर्वक यतना से जाते हुए साधु से चींटी आदि का मर जाना द्रव्य हिंसा कही है। पर यह भाव हिंसा नहीं है क्योंकि प्रमत्त योग से होने वाले प्राणीवध को हिंसा कहा गया है।

जो उ पमत्तो पुरिसो तस्स उ जोगं पडुच्च जे सत्ता।
वावज्जंति नियमा तेसिं सो हिंसओ होइ ॥

भावार्थ—जो प्रमादी पुरुष है उसके व्यापार से जिन जीवों की हिंसा होती हैं। उनका हिंसक नियमतः वह प्रमादी ही है।

इस प्रकार द्रव्य हिंसा में हिंसा का लक्षण घटित न होते हुए भी वह हिंसा कैसे कही गई?

उत्तर—ऊपर जो हिंसा की व्याख्या की गई है वह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसा की है वैसे द्रव्य हिंसा तो मरण मात्र में रूढ है और इस अपेक्षा उक्त हिंसा को द्रव्य हिंसा कहना असंगत नहीं है। (भगवती पहला शतक तीसरा उद्देशा टीका)

(२६) प्रश्न—क्या सभी मनुष्य एक सी क्रिया वाले होते हैं?

उत्तर—सभी मनुष्य एक सी क्रिया वाले नहीं होते। भगवती सूत्र प्रथम शतक के दूसरे उद्देशे में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। संयत, संयतासंयत और असंयत के भेद से मनुष्य तीन प्रकार के हैं। संयत के दो भेद हैं—सराग संयत और वीतराग संयत। उपशान्त एवं क्षीण कषाय वाले महात्मा वीतराग संयत होते हैं। राग रहित होने के कारण वे आरम्भादि नहीं करते। अतएव वे क्रिया रहित होते हैं। सरागसंयत के भी दो भेद हैं—प्रमत्त संयत और अप्रमत्तसंयत। कषाय क्षीण या उपशांत न होने के कारण अप्रमत्त संयत के केवल मायाप्रत्यया क्रिया होती है। प्रमत्त संयत के कषाय भी क्षीण नहीं होते तथा प्रमादपूर्वक प्रवृत्ति भी होती है

अतएव उनके मायाप्रत्यया और आरम्भिकी ये दो क्रियाएं होती हैं। संयतासंयत परिग्रह धारी होता है अतएव उनके उक्त दो तथा पारिग्रहिकी ये तीन क्रियाएं होती हैं। असंयत के तीन भेद हैं-सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि एवं सम्यगिमथ्यादृष्टि। असंयत सम्यग्दृष्टि के प्रत्याख्यान नहीं होते इसलिये उसके चार क्रियाएं होती हैं-आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यान प्रत्यया। मिथ्यादृष्टि एवं सम्यगिमथ्यादृष्टि के उक्त चार एवं मिथ्या दर्शन प्रत्यया ये पाँच क्रियाएं होती हैं।

(२७) प्रश्न—क्या पृथ्वी के जीव अठारह पाप का सेवन करते हैं?

उत्तर—भगवती उन्नीसवें शतक के तीसरे उद्देशे में श्री गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—हे भगवन्! क्या पृथ्वीकाय के जीव प्राणातिपात, मृषावाद यावत् मिथ्यादर्शनशल्य रूप अठारह पापस्थान सेवन करने वाले कहे जाते हैं? उत्तर में भगवान् ने फरमाया है—हे गौतम! पृथ्वीकाय के जीव प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य रूप अठारह पापस्थानों के सेवन करने वाले कहे जाते हैं। वचन आदि के अभाव में पृथ्वीकाय के जीवों को मृषावादादि पाप कैसे लग सकते हैं? इसका समाधान करते हुए टीकाकार ने कहा है—यश्चेह वचनाद्यभावेऽपि पृथ्वीकायिकानां मृषावादादिभिरूपाख्यानंतन्मृषावादाद्यविरति माश्रित्योच्यते। अर्थात् वचनादि के न होते हुए यहाँ जो पृथ्वीकाय के जीवों को मृषावादादि से युक्त कहा है वह मृषावादादि अविरति की अपेक्षा जानना चाहिये। चूँकि उन्होंने मृषावादादि पापस्थानों का त्याग नहीं किया है इसलिये उन्हें ये पाप लगते रहते हैं।

(२८) प्रश्न—द्रव्यमन और भावमन का क्या स्वरूप? क्या द्रव्य और भावमन एक दूसरे के बिना भी होते हैं?

उत्तर—प्रज्ञापना सूत्र के पन्द्रहवें इन्द्रिय पद में टीकाकार ने

द्रव्य मन और भाव मन की व्याख्या इस प्रकार दी है। मनयोग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण कर जीव उन्हें जो मन रूप से परिणत करता है वही द्रव्यमन है। द्रव्यमन के आधार से जीव का जो मनन व्यापार होता है वह भाव मन कहा जाता है। टीकाकार ने इसकी पुष्टि में नन्दी अध्ययन की चूर्णि उद्धृत की है। वह इस प्रकार है—

'मणपज्जत्ति नामकम्मोदयओ जोग्गे मणोदव्वे घित्तुं मणत्तेण परिणामिया दव्वा दव्वमणो भन्नइ। जीवो पुण मणपरिणामकिरियावंतो भावमणो, किं भणियं होइ मणदव्वालंबणो जीवस्स मणवावारो भावमणो भण्णइ।

भावार्थ—मनःपर्याप्ति नामकर्म के उदय से जीव मनयोग्य द्रव्य ग्रहण कर उन्हें मन रूप से परिणत करता है। मनरूप से परिणत इन द्रव्यों को ही द्रव्यमन कहा जाता है। मन परिणाम क्रिया वाला अर्थात् मनन रूप मानसिक व्यापार वाला जीव ही भावमन है। आशय यह है कि द्रव्यमन के आधार से होने वाला जीव का मनन व्यापार ही भावमन कहा जाता है।

भावमन के होने पर अवश्य द्रव्यमन होता है और द्रव्यमन होने पर भावमन होता है और नहीं भी होता है। द्रव्यमन के न होने पर भावमन नहीं होता किन्तु भावमन के न होने पर भी द्रव्यमन हो सकता है। जैसे भवस्थ केवली। लोकप्रकाश में भी कहा है—

द्रव्यचित्तं विना भावचित्तं न स्यादसंज्ञिवत्।
विनाऽपि भावचित्तं तु द्रव्यतो जिनवद्भवेत्॥

अर्थ—द्रव्यचित्त विना भाव चित्त नहीं होता। जैसे असंज्ञी जीव किन्तु भावचित्त विना भी द्रव्य चित्त होता है। जैसे जिनदेव।

भावमन का अर्थ चैतन्य भी किया जाता है और इस अपेक्षा से भावमन द्रव्यमन रहित असंज्ञी जीवों के भी होता है। भगवती तेरहवें शतक प्रथम उद्देशे में 'नोइंदियोवउत्ता उववज्जंति' की

टीका करते हुए टीकाकार ने कहा है--

नोइन्द्रियं मनस्तत्र च यद्यपि मनःपर्याप्त्यभावे द्रव्य मनो नास्ति तथाऽपि भावमनसश्चैतन्यरूपस्य सदा भावात्तेनोपयुक्तानामुत्पत्तेर्नोइन्द्रियोपयुक्ता उत्पद्यन्त इत्युच्यते ।

भावार्थ--नोइन्द्रिय का अर्थ मन है। यद्यपि वहाँ मनःपर्याप्ति नहीं है और इस कारण द्रव्य मन नहीं है तो भी चैतन्य रूप भावमन सदा रहता है और उस उपयोग वाले जीवों की उत्पत्ति होती है। अतः नोइन्द्रिय उपयोग वाले उत्पन्न होते हैं ऐसा कहा जाता है।

(२६) प्रश्न--द्रव्य क्षेत्र काल भाव-इनमें कौन किससे सूक्ष्म है?

उत्तर--समय रूप काल सूक्ष्म माना जाता है। शतपत्र भेद में प्रत्येक पत्र के भेदन में असंख्यात समय का होना माना गया है। काल की अपेक्षा क्षेत्र अधिक सूक्ष्म है क्योंकि अङ्गुलश्रेणी प्रमाण क्षेत्र में असंख्यात अवसर्पिणी के समयों के बराबर आकाश प्रदेश कहे गये हैं। क्षेत्र की अपेक्षा द्रव्य और भी अधिक सूक्ष्म है क्योंकी एक आकाशप्रदेश में अनन्तानन्त परमाणु आदि पुद्गल द्रव्य रहे हुए हैं। द्रव्य की अपेक्षा भाव अर्थात् पर्याय सूक्ष्म है क्योंकि एक परमाणु की अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं। हरिभद्रीयावश्यक में काल से क्षेत्र की सूक्ष्मता बतलाते हुए कहा है--

सुहुमो य होइ कालो तओ सुहुमयरं हवइ खित्तं।
अंगुल सेढी मित्ते ओसप्पिणीओ असंखेज्जा॥

भावार्थ-काल सूक्ष्म है और क्षेत्र उससे भी अधिक सूक्ष्म है। अङ्गुल श्रेणी प्रमाण क्षेत्र में असंख्यात अवसर्पिणियाँ होती हैं।

अवधिज्ञान का विषय बतलाते हुए हरिभद्रीयावश्यक में बतलाया है कि काल, क्षेत्र, द्रव्य और पर्याय (भाव) क्रमशः सूक्ष्म सूक्ष्मतर हैं। इसलिये पहले विषय की वृद्धि होने पर नियमपूर्वक

उत्तर की वृद्धि होती है और उत्तर की वृद्धि होने पर पहले की वृद्धि हो भी सकती है और नहीं भी। गाथा यह है —

काले चउण्ह वुड्ढी, कालो भइयाव्वु खित्तवुड्ढीए।
वुड्ढीइ दव्व पज्जव, भइयव्वा खित्तकाला उ ॥

भावार्थ-जब अवधिज्ञान का विषय काल की अपेक्षा बढ़ता है तो चारों द्रव्य, क्षेत्र, काल और पर्याय की वृद्धि होती है। क्षेत्र की अपेक्षा अवधिज्ञान के विषय की वृद्धि होने पर द्रव्य पर्याय के विषय की वृद्धि होती है पर काल की भजना है। कारण यह है कि क्षेत्र सूक्ष्म है और काल क्षेत्र की अपेक्षा स्थूल है। द्रव्य की अपेक्षा अवधिज्ञान के विषय की वृद्धि होने पर पर्याय विषयक अवधिज्ञान की वृद्धि होती है तथा काल और क्षेत्र विषयक वृद्धि की भजना है क्योंकि काल और क्षेत्र, द्रव्य पर्याय से स्थूल हैं। पर्याय विषयक अवधिज्ञान की वृद्धि होने पर द्रव्य विषयक वृद्धि की भजना है। पर्याय सूक्ष्म हैं और द्रव्य उनकी अपेक्षा स्थूल है।

इस प्रकार इन चारों में काल क्षेत्र द्रव्य और भाव (पर्याय) क्रमशः एक दूसरे से सूक्ष्म सूक्ष्मतर हैं। (हरिभद्रीयावश्यकनिर्युक्ति गाथा ३६-३७)

(३०) प्रश्न—देवता कौन सी भाषा बोलते हैं ?

उत्तर—भगवती सूत्र के पाँचवें शतक के चौथे उद्देशे में गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से यही प्रश्न किया है। उत्तर में कहा गया है कि देवता अर्द्धमागधी भाषा बोलते हैं और बोली जाने वाली भाषाओं में अर्द्धमागधी भाषा विशिष्ट है। टीकाकार ने प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी और अपभ्रंश ये छः भाषाएं दी हैं और अर्द्धमागधी का स्वरूप बतलाते हुए कहा है— जिस भाषा में आधे लक्षण मागधी भाषा के हों और आधे प्राकृत भाषा के हों वह अर्द्धमागधी भाषा है।

भाषा आर्य की व्याख्या करते हुए प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद में

कहा है-'भासारिया जेणं अद्धमागहाए भासाए भासेंति' अर्थात् जो अर्द्धमागधी भाषा में बोलते हैं वे भाषा आर्य हैं। तीर्थङ्कर देव का धर्मोपदेश भी अर्द्धमागधी भाषा में होता है। समवायांग ३४ में तीर्थङ्कर देव के चौतीस अतिशयों में बाईसवाँ अतिशय यही बतलाया है-'भगवं च णं अद्ध मागहीए भासाए धम्म माइ-क्खई' अर्थात् भगवान् अर्द्धमागधी भाषा में धर्मोपदेश करते हैं।

(३१) प्रश्न-क्या ज्योतिष शास्त्र की तरह जैन शास्त्रों में भी पुष्यनक्षत्र की श्रेष्ठता का वर्णन मिलता है ?

उत्तर-हाँ, जैन शास्त्रों में पुष्य नक्षत्र की श्रेष्ठता का वर्णन पाया जाता है। ज्ञातासूत्र के आठवें मल्लि अध्ययन में अरहन्नक श्रावक की समुद्र यात्रा के वर्णन में, व्यापारियों के नौकारूढ हो जाने पर, स्तुतिपाठकों ने ये मांगलिक वचन कहे हैं।

हं भो !सव्वेसिमवि अत्थसिद्धी, उवट्ठिताइं कल्ला-णाइं, पडिहयाति सव्व पावाइं, जुत्तो पूसो विजओ मुहुत्तो अयं देस कालो।

अर्थात्-आप सभी लोगों की अर्थसिद्धि हो, कल्याण आपके लिये उपस्थित हैं, आपके सभी विघ्न नष्ट हो गये। यह देश काल यात्रा के लिये उपयुक्त है क्योंकि चन्द्रमा के साथ पुष्य नक्षत्र है और विजय मुहूर्त है। टीकाकार कहते हैं कि 'पुष्यनक्षत्रं हि यात्रायां सिद्धिकरं, यदाह, अपि द्वादशमे चन्द्रे पुष्यः सर्वार्थसाधनः।' यानी पुष्यनक्षत्र यात्रा में सिद्धिदायक है। कहा भी है-बारहवाँ चन्द्र होने पर भी पुष्य नक्षत्र सभी अर्थ की सिद्धि करने वाला होता है।

(३२) प्रश्न-तेरह काठियों के बोलों का वर्णन कहाँ है ?

उत्तर-आलस काठिया, मोह काठिया, प्रज्ञा काठिया, मान काठिया, क्रोध काठिया, प्रमाद काठिया, कृपण काठिया, भय काठिया, शोक काठिया, अज्ञान काठिया, भ्रम काठिया, कुतूहल

काठिया, विषय काठिया—ये तेरह काठियों के बोल कहे जाते हैं और कहा जाता है कि इन्हें दूर करने से आत्मा धर्म प्राप्त करता है। हरिभद्रीयावश्यक में मनुष्य भव की दुर्लभता का वर्णन कर शास्त्र श्रवण की दुर्लभता बताते हुए उक्त आशय की दो गाथाएं दी हैं—

आलस्स मोहऽवण्णा थंभा कोहा पमाय किवणत्ता।
भय सोगा अण्णाणा वक्खेव कुतूहला रमणा॥
एतेहिं कारणेहिं लद्धूण सुदुल्लहंपि माणुस्सं।
ण लहइसुतिं हियकरिं संसारुत्तारणिं जीवो॥

भावार्थ—आलस्य, मोह, अवज्ञा, स्तम्भ (मान), क्रोध, प्रमाद कृपणता, भय, शोक, अज्ञान, व्याक्षेप, कुतूहल और रमण इन कारणों से अतिदुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर भी यह जीव आत्म-हितकारी एवं संसार से पार पहुंचाने वाला धर्मश्रवण प्राप्त नहीं करता। तेरह बोलों की व्याख्या इस प्रकार है—

(१) आलस्य—मनुष्य आलस्यवश साधु के समीप नहीं जाता और शास्त्र श्रवण नहीं करता। (२) मोह मोहवश गृहस्थ के झंझटों में फंसा हुआ भी शास्त्र सुनने के लिये समय नहीं निकालता। (३) अवज्ञा—साधुओं के प्रति अवज्ञा होने से, ये लोग क्या जानते हैं ? इस प्रकार उपेक्षा कर उनके पास नहीं जाता। (४) स्तम्भ (मान)—जाति आदि के अभिमान के कारण अपने को बड़ा समझने वाला भी साधु समागम नहीं करता। (५) क्रोध—कोई साधु को देख कर ही क्रोध करने लगता है इसलिये वह उन के पास जाकर शास्त्र नहीं सुनता। (६) प्रमाद— पाँच प्रमादों में फंसा हुआ भी प्रमादवश शास्त्र श्रवण नहीं करता। (७) कृपणता—साधु के पास जाने से उन्हें कुछ देना पड़ेगा इस डर से कृपण स्वभाववाला व्यक्ति उनके पास नहीं जाता। (८) भय - साधु लोग नरकादि का डरावना वर्णन करते हैं इस आशंका

से भी कोई डरपोक व्यक्ति उनके पास नहीं जाता। (९) शोक-इष्ट वस्तु के वियोग जन्य शोक से व्याकुल व्यक्ति भी धर्म श्रवण नहीं करता। (१०) अज्ञान-कुदृष्टियों से बहकाया हुआ बाल अज्ञानी जीव भी सत्य धर्म को नहीं सुनता। (११) व्याक्षेप-विधि कर्त्तव्यों से व्याकुल चित्त वाला व्यक्ति भी धर्म श्रवण नहीं करता। (१२) कुतूहल-नटादि विषयक कुतूहल के कारण कोई धर्म श्रवण नहीं करता (१३) रमण (क्रीड़ा)-लावकादि की क्रीड़ाओं में आसक्ति वाला व्यक्ति भी धर्म सुनने का सुयोग नहीं पाता। (विशेषावश्यक भाषान्तर भा० २ पृष्ठ ३५७ गा० ८४१-८४२) (हरिभद्रीयावश्यक निर्युक्ति गाथा ८४१-८४२)

(३३) प्रश्न-जिन जीवों के शरीर से धनुष बना हुआ है उन्हें धनुष से होने वाली सावद्य क्रिया से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है उसी तरह क्या साधु के उपकरण रूप पात्रादि के जीवों को भी जीव रक्षा कारणक पुण्य कर्मों का बन्ध होता है?

उत्तर-पात्रादि के जीवों के पुण्य कर्म का बन्ध होना नहीं माना गया है। भगवती पाँचवें शतक के छठे उद्देशे में धनुष चलाने वाले पुरुष के एवं धनुष के जीवों के, जिनके शरीर से कि वह बना है, पाँच क्रियाएं कही गई हैं। यहाँ टीकाकार ने शंका उठाई है कि पुरुष के पाँच क्रियाएं कहना ठीक है क्योंकि उसके शरीर आदि का व्यापार दिखाई देता है पर धनुष के जीवों के क्रियाएं कैसे हो सकती हैं? उनका तो शरीर भी उस समय अचेतन अर्थात् जड़ है। यदि जड़ शरीर के कारण भी क्रियाएं होने लगेंगी तब तो सिद्ध आत्माओं के भी क्रियाएं माननी होंगी क्योंकि उनसे त्यक्त शरीर भी लोक में जीव हिंसा के निमित्त हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में एक बात और भी विचारने योग्य है। चूँकि धनुष कायिकी आदि क्रियाओं के कारण हैं इसलिए उसके जीवों के अशुभ कर्म का बन्ध होता है तो जीवरक्षा के साधनभूत साधु के पात्र आदि धर्मोपकरण के जीवों के भी पुण्य कर्म का बन्ध क्यों न

माना जाय ? इन शंकाओं के समाधान में टीकाकार कहते हैं—

अविरतिपरिणामाद्बन्धः, अविरतिपरिणामश्च यथा पुरुषस्यास्ति एवं धनुरादिनिर्वर्तक शरीरजीवानामपीति, सिद्धानां तु नास्त्यसौ इति न बन्धः। पात्रादि जीवानां तु न पुण्यबन्धहेतुत्वं तद्धेतोर्विवेकादेस्तेष्वभावादिति।

भावार्थ—अविरति के परिणाम से बंध होता है। अविरति के परिणाम जिस प्रकार पुरुष के होते हैं—वैसे ही उन जीवों के भी हैं—जिनसे कि धनुष आदि बने हैं। सिद्धों में अविरति परिणाम नहीं होता इसलिये उनके बंध भी नहीं होता। पात्रादि जीवों के पुण्य का बंध नहीं होता, क्योंकि पुण्य बन्ध में हेतुभूत विवेक आदि का उनमें अभाव होता है।

इस प्रकार शुभ कर्म बन्ध के हेतुरूप विवेकादि शुभ अध्यवसाय पात्रादि के जीवों के न होने से उन्हें पुण्य का बन्ध नहीं होता किन्तु अशुभ कर्म के बन्ध हेतुरूप अविरति परिणाम के होने से धनुष के जीवों को कायिकी आदि क्रियाएं लगती हैं एवं तन्निमित्तक अशुभ कर्म का बन्ध होता है।

(३४) प्रश्न—क्या 'माहण' शब्द का अर्थ श्रावक भी होता है?

उत्तर—हाँ, टीका में 'माहण' शब्द का अर्थ श्रावक भी किया गया है। भगवती पहले शतक सातवें उद्देशे में बतलाया है कि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पूर्ण पर्याप्ति वाला गर्भस्थ जीव तथारूप श्रमण माहण का एक भी आर्य धार्मिक वचन सुन कर, धारण कर संवेग से श्रद्धालु एवं धर्म में तीव्र अनुराग वाला हो जाता है। वह धर्म, पुण्य, स्वर्ग, और मोक्ष की कामना, आकांक्षा और पिपासा वाला बन जाता है और उसी में उसका चित्त लग जाता है। उसके लेश्या और अध्यवसाय तद्रूप हो जाते हैं। उसी के उपयोग से उपयुक्त एवं उसी भावना से भावित वह जीव उसी समय काल करे तो देवलोक

में उत्पन्न होता है। टीका में 'माहण' का अर्थ यों किया है-

माहणस्स त्ति 'मा हन' इत्येवमादिशति स्वयं स्थूल-प्राणातिपातनिवृत्तत्वाद् यः स माहनः अथवा ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यस्य देशतःसद्भावाद् ब्राह्मणो देशविरतिस्तस्य वा।

भावार्थ-स्वयं स्थूल प्राणातिपात से निवृत्त होने से जो दूसरों को 'मत मारो' इस प्रकार का आदेश करता है अथवा देशतः ब्रह्मचर्ययुक्त होने से जो ब्राह्मण है यानी देशविरति है उसका ...।

भगवती दूसरे शतक के पाँचवें उद्देशे में श्रमण अथवा माहण की पर्युपासना का फल शास्त्र श्रवण बतलाया है। यहाँ भी टीकाकार ने माहण शब्द का अर्थ श्रावक किया है। टीका यह है—

अथवा श्रमणः साधुः, माहनः श्रावकः।

अर्थात् श्रमण का अर्थ साधु है और माहण का अर्थ श्रावक है।

(३५) प्रश्न-भगवती सूत्र शतक आठ उद्देशा छह में तथारूप के असंयति अविरति को प्रासुक या अप्रासुक, एषणीय तथा अनेषणीय आहार देने से एकान्त पाप होना बतलाया है तथा निर्जरा का अभाव कहा है सो किस अपेक्षा से?

उत्तर-अहिंसा प्रधान जैन धर्म में दया दान की बड़ी महिमा है। मोक्ष के चार कारणों में दान को पहला स्थान दिया गया है। सूयगडांग सूत्र के ग्यारहवें अध्ययन में दान के निषेध के सम्बन्ध में कहा है-'जे य णं पडिसेहंति वित्तिच्छेयं करिंति ते'। अर्थात् जो दान का निषेध करते हैं वे प्राणियों की वृत्ति का विनाश करते हैं। टीकाकार ने ऐसे लोगों के लिये कहा है कि वे आगम सद्भाव को नहीं जानते एवं अगीतार्थ हैं। ऐसे दान सम्बन्धी अन्य भी अनेक पाठ जैनशास्त्रों में उपलब्ध हैं। उन्हें देखने से यह स्पष्ट है कि भगवती सूत्र के वचन अपेक्षा विशेष से कहे गये हैं। इनका पूर्वापर सम्बन्ध एवं टीका देखने से इसका खुलासा हो जाता है।

यहाँ दान सम्बन्धी तीन पाठ हैं। पहले पाठ में संयति को प्रासुक आहार देने का फल बतलाया है, दूसरे में संयति को अप्रासुक आहार देने का फल कहा है और तीसरे में तथारूप के असंयति को प्रासुक या अप्रासुक आहार देने का फल है। टीकाकार अभयदेव सूरि कहते हैं कि इन तीनों सूत्रों में सूत्रकार ने मोक्ष के लिये दिये जाने वाले दान का ही विचार किया है। अनुकम्पा और औचित्य दान का नहीं। अनुकम्पादान और औचित्यदान में निर्जरा की नहीं किन्तु अनुकम्पा और औचित्य की ही अपेक्षा होती है। कहा भी है—

मोक्खत्थं जं दाणं, तं पइ एसो विही समक्खाओ।
अणुकम्पादाणं पुण, जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्धं॥

भावार्थ—मोक्ष के लिये दिये जाने वाले दान के लिये यह विधि कही है। अनुकम्पादान का जिनदेव ने कहीं निषेध नहीं किया है।

असंयति को देने में कर्म बन्ध क्यों होता है इसका खुलासा करते हुए श्री हरिभद्रसूरि ने यह कहा है—

शुद्धं वा यदशुद्धं वाऽसंयताय प्रदीयते।
गुरुत्वबुद्ध्या तत्कर्मबन्धकृन्नानुकम्पया॥

अर्थ—गुरुबुद्धि से असंयति को शुद्ध या अशुद्ध जो भी दिया जाता है वही कर्म बन्ध करने वाला है किन्तु अनुकम्पा से दिया गया आहार पापकारी नहीं है।

टीकाकार श्रीअभयदेवसूरि एवं हरिभद्रसूरि के कथनानुसार यह स्पष्ट है कि सामान्यतः असंयति अविरति को अनुकम्पाभाव से देने में कोई पाप नहीं होता, न जिनदेव ने उसका निषेध ही किया है। किन्तु गुरुबुद्धि से तथारूप के असंयति अविरति को देने से मिथ्यात्व का पोषण होता है और इसलिये वह दान मिथ्यात्व का कारण होने से पापकारी है।

(३६) प्रश्न—अपनी ओर से किसी प्राणी को भय न देना,

क्या यही अभयदान का अर्थ है या इससे विशेष?

उत्तर--नहीं, अभयदान का इससे कहीं अधिक अर्थ है। सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से भयभीत होते हैं। भयभीत प्राणियों को भय से मुक्त कर अभय देना, निर्भय करना अभयदान शब्द का अर्थ है। गच्छाचारपयन्ना दूसरे अधिकार में अभयदान का अर्थ करते हुए कहा है--

यः स्वभावात् सुखैषिभ्यो भूतेभ्यो दीयते सदा।
अभयं दुःखभीतेभ्योऽभयदानं तदुच्यते ॥

भावार्थ--स्वभावतः सुख चाहने वाले और दुःख से डरे हुए प्राणियों को जो अभय दिया जाता है अर्थात् भय से मुक्त किया जाता है उसी को अभयदान कहा है।

पर वैसे यह शब्द मृत्यु के महाभय से डरे हुए प्राणी को मौत के भय से मुक्त करने में आता है। शास्त्रों में जगह जगह इसकी व्याख्या इसी प्रकार मिलती है। सूयगडांग सूत्र के छठे अध्ययन में 'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं' कहा है, अर्थात् सभी दानों में अभयदान श्रेष्ठ है। टीकाकार इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

स्वपरानुग्रहार्थ मर्थिने दीयते इति दान मनेकधा तेषां मध्ये जीवानां जीवितार्थिनां त्राणकारित्वादभयदानं श्रेष्ठम् । तदुक्तं--

दीयते म्रियमाणस्य, कोटिं जीवितमेव वा।
धनकोटिं न गृह्णाति, सर्वो जीवितुमिच्छति ॥

भावार्थ--अपने और दूसरे पर अनुग्रह करने के लिये अर्थी-याचक को जो दिया जाता है वह दान है। यह अनेक प्रकार का है। दान के सभी प्रकारों में अभयदान श्रेष्ठ हैं क्योंकि जीना चाहने वाले प्राणियों की यह रक्षा करने वाला है। कहा भी है--

मरते हुए प्राणी को यदि एक ओर करोड़ों रुपया दिया जाय

और दूसरी ओर जीवन दिया जाय तो वह करोड़ों का धन नहीं लेगा क्योंकि सभी जीना चाहते हैं।

सैंतीसवाँ बोल

६८४-उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें द्रुमपत्रक अध्ययन की सैंतीस गाथाएं

उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्ययन का नाम द्रुमपत्रक है। इस अध्ययन में वृक्ष के पत्ते आदि दृष्टान्तों से मनुष्य भव की अस्थिरता बतलाई गई है। मनुष्य जन्म आदि की दुर्लभता का वर्णन कर शास्त्रकार ने प्रमाद का त्याग कर धर्माचरण करने का उपदेश दिया है। इसमें सैंतीस गाथाएं हैं। भावार्थ इस प्रकार है—

(१) वृक्ष का पत्ता अवस्था अथवा रोगादि कारणों से विवर्ण एवं जीर्ण हुआ कुछ दिन निकाल कर वृन्त से शिथिल हो गिर पड़ता है। मनुष्य जीवन की स्थिति भी पत्र जैसी ही है। यौवन और आयु अस्थिर हैं। इसलिये हे गौतम! समयमात्र भी प्रमाद न करो।

(२) जैसे घास पर रही हुई ओस की बूंद थोड़े समय तक अस्थिर रह कर गिर पड़ती है। मानव जीवन भी ओस बूंद की तरह अस्थिर है, न मालूम कब यह समाप्त हो जाय? अतएव हे गौतम! क्षण भर भी प्रमाद न करो।

(३) मनुष्य की जिन्दगी बहुत छोटी है तिस पर भी अनेक विघ्न बाधाएं बनी रहती हैं। इनके कारण जीवन का कोई भी निश्चय नहीं। जीवन की अस्थिरता और अनियतता को जानकर पूर्वकृत कर्मों का नाश करने के लिये प्रयत्न करो और हे गौतम! तुम जरा भी प्रमाद न करो।

(४) यह मनुष्यभव सभी प्राणियों के के लिये दुर्लभ है। बड़े

लम्बे काल में भी यह सुलभ नहीं होता। मनुष्य भव के बाधक कर्म गाढ़ अर्थात् दृढ़ होते हैं। फल भोग किये बिना जीव का उनसे छुटकारा नहीं होता। अतएव प्राप्त मनुष्य भवरूप शुभ अवसर का खूब सदुपयोग करो और हे गौतम! क्षण भर भी प्रमाद न करो।

(५) पृथ्वीकाय में उत्पन्न हुआ जीव उत्कृष्ट असंख्यात काल तक उसी काय में जन्म मरण करते हुए रहता है। इसलिये हे गौतम! तुम समय मात्र भी प्रमाद न करो।

(६) अप्काय में जन्म लेकर जीव यदि उसी काय में बारबार जन्म मरण करता रहे तो असंख्यात काल तक वह वहीं रहता है। अतः हे गौतम! तुम एक समय का भी प्रमाद न करो।

(७) तेजस्काय में गया हुआ जीव उसी काय में उत्कृष्ट असंख्यात काल तक जन्म मरण करता रहता है। अतएव हे गौतम! थोड़े समय के लिये भी प्रमाद न करो।

(८) वायुकाय को प्राप्त हुआ जीव उसी योनि में उत्कृष्ट असंख्यात काल तक जन्मा और मरा करता है। इसलिए हे गोतम! थोडे समय के लिये भी प्रमाद न करो।

(९) वनस्पतिकाय में उत्पन्न हुआ जीव उसी योनि में दुरन्त (दुःख पूर्वक अन्त होने वाले) अनन्त काल तक जन्म मरण करता रहता है। इसलिये हे गौतम! तुम क्षण भर भी प्रमाद न करो।

(१०) द्वीन्द्रियों में उत्पन्न हुआ जीव यदि उसी योनि में जन्म मरण करे तो वह उसमें संख्यात काल तक रह सकता है। अतएव हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद न करो।

(११) तीन इन्द्रियों वाले जीवों में जन्म लेने वाला जीव उस योनि में जन्म मरण करते हुए संख्यात काल तक रह सकता है। इसलिये हे गौतम! एक क्षण का भी प्रमाद न करो।

(१२) चतुरिन्द्रियों में उत्पन्न हुआ जीव उस योनि में उत्कृष्ट

संख्यात काल तक जन्म मरण करता रहता है। इसलिये हे गौतम! एक समय के लिये भी प्रमाद न करो।

(१) पञ्चेन्द्रिय जीवों में जन्म लेकर भी यह जीव उस योनि में निरन्तर उत्कृष्ट सात आठ भव करता है। अतएव हे गौतम! एक समय का भी प्रमाद न करो।

(१४) देव अथवा नरक योनि में जन्म लेने वाला जीव वहाँ उसी भव तक रहता है। उसकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की होती है। इसलिये हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद न करो।

(१५) अधिक प्रमाद सेवन करने वाला प्रमादी जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इस संसार में उपरोक्त ५ से १४ गाथाओं में कहे अनुसार परिभ्रमण करता रहता है। इस प्रकार मनुष्य भव पाना उसके लिये बड़ा ही कठिन हो जाता है। इसलिये हे गौतम! तुम समय मात्र भी प्रमाद न करो।

(१६) दुर्लभ मनुष्य भव पा लेने पर भी आर्यदेश का प्राप्त होना बड़ा मुश्किल है। बहुत से मनुष्य चोर और म्लेच्छ होकर उत्पन्न होते हैं। जो धर्माधर्म के विवेक से सर्वथा शून्य होते हैं। इसलिये हे गौतम! एक समय के लिये भी प्रमाद न करो।

(१७) यदि सौभाग्य से आर्य देश भी प्राप्त हो जाय फिर भी पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता प्राप्त होना दुर्लभ है। अधिकांश मनुष्यों में इन्द्रियों की विकलता देखी जाती है और इस कारण धर्म क्रिया करना चाहते हुए भी वे उसमें पूरा पुरुषार्थ नहीं कर पाते। अतएव हे गौतम! क्षण भर भी प्रमाद न करो।

(१८) यदि पूर्ण इन्द्रियाँ भी मिल जायँ फिर भी उत्तम धर्म सुनने का सौभाग्य कहाँ? अधिकांश लोग कुतीर्थियों की सेवा करने वाले दिखाई देते हैं, उन्हें उत्तम धर्म सुनने का सुयोग कैसे प्राप्त हो सकता है? अतएव हे गौतम! क्षण भर भी प्रमाद न करो।

(१९) यदि दैवयोग से यह आत्मा उत्तम धर्म का श्रवण भी कर ले फिर भी उस पर श्रद्धा-रुचि का होना अति दुर्लभ है। अधिकांश भारी कर्म वाले मनुष्य अनादिकालीन अभ्यास के कारण मिथ्यात्व ही का सेवन करते हैं, उन्हें तत्त्वरुचि नहीं होती। अतएव हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद न करो।

(२०) उत्तम धर्म पर श्रद्धा-रुचि हो जाने पर भी शरीर द्वारा उसका पालन करना, उसे आचरण का रूप देना बड़ा ही कठिन है। अधिकतर लोग विषयों में गृद्ध बने हुए हैं। धर्म की ओर उनकी उपेक्षा मात्र दिखाई देता है। हे गौतम ! इस कारण तुम एक क्षण का भी प्रमाद न करो।

(२१) तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है, तुम्हारे बाल पक कर सफेद हो रहे हैं। तुम्हारी श्रोत्रेन्द्रिय की सुनने की शक्ति क्षीण होती जा रही है। इसलिए हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद न करो।

(२२) तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है, तुम्हारे बाल सफेद हो रहे हैं। तुम्हारी आँखों की ज्योति मन्द होती जा रही है। इसलिये हे गौतम ! तुम समय मात्र भी प्रमाद न करो।

(२३) तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है। तुम्हारे बाल पक गये हैं। तुम्हारी नासिका की घ्राण शक्ति का ह्रास होता जा रहा है अतएव हे गौतम ! तुम समय मात्र भी प्रमाद न करो।

(२४) तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है। तुम्हारे केश श्वेत हो गये हैं। रसनेन्द्रिय की आस्वादन शक्ति भी कम होती जा रही है। अतएव हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद न करो।

(२५) तुम्हारा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तुम्हारे केश सफेद हो रहे हैं। स्पर्शनेन्द्रिय की शक्ति भी प्रति समय क्षीण होती जा रही है। इसलिये हे गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद न करो।

(२६) तुम्हारा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तुम्हारे केश

सफेद हो गये हैं। तुम्हारे हाथ पैर आदि अवयवों की अथवा मन वचन काया की सारी शक्ति भी घटती जा रही है। अतएव हे गौतम! तुम एक समय के लिये भी प्रमाद न करो।

(२७) युवावस्था में भी तुम्हारे शरीर में मानसिक उद्वेग, फोड़े फुन्सी, विसूचिका तथा और भी अनेक तरह के रोग किसी भी समय लग सकते हैं। हे गौतम! इनसे तुम्हारा शारीरिक बल क्षीण होता है और तुम मृत्यु के ग्रास तक हो सकते हो। इसलिये तुम्हें क्षण भर भी प्रमाद न करना चाहिए।

(२८) जैसे शरद् ऋतु का चन्द्र विकासी कमल जल में उत्पन्न और बड़ा होकर भी जल से अलग रहता है। इसी प्रकार हे गौतम! तुम भी अपने स्नेह भाव को दूर करो। सभी प्रकार से स्नेह भाव का त्याग कर, हे गौतम! तुम क्षण भर भी प्रमाद न करो।

(२९) कनक कामिनी का त्याग कर तुम घर से निकले हो और साधुत्व की दीक्षा ली है। वमन किये हुए इस विषय रस का तुम पुनः पान न करो। हे गौतम! तुम इस विषय में जरा भी प्रमाद न करो।

(३०) मित्र एवं बन्धु जन के स्नेह को ठुकरा कर एवं विपुल धनराशि का त्याग कर तुम दीक्षित हुए हो। हे गौतम! उनमें पुनः आसक्ति भाव धारण न करो और न उनकी गवेषणा ही करो। इस विषय में हे गौतम! तुम थोड़े समय का भी प्रमाद न करो।

(३१) यद्यपि आज केवलज्ञानी तीर्थङ्कर देव विद्यमान नहीं हैं किन्तु उनका उपदिष्ट मुक्तिमार्ग तो यहाँ आज भी उपलब्ध है। इस प्रकार संदेह रहित होकर भव्यजीव भविष्य काल में संयम में स्थिर रहेंगे एवं प्रमाद न करेंगे। फिर इस समय साक्षात् मेरे होते हुए तुम्हें, मुक्ति देने वाले इस न्यायमार्ग में, किसी प्रकार का संदेह क्यों होना चाहिए? हे गौतम! संदेह रहित होकर इसके आचरण में जरा भी प्रमाद न करो।

(३२) कुतीर्थ रूप कंटकाकीर्ण मार्ग को छोड़कर, हे गौतम! तुम तीर्थङ्करसेवित मुक्ति के राजमार्ग पर पहुंच गये हो। यहीं पर विराम न कर, पूर्ण आस्था रखते हुए मुक्ति के इस सरल मार्ग पर बढ़ते जाओ। इस विषय में हे गौतम! तुम तनिक भी प्रमाद न करो।

(३३) जैसे निर्बल भारवाहक विषम मार्ग में पहुँचने पर खिन्न होकर धैर्य खो देता है और अपने बहुमूल्य उपयोगी भार को वहीं छोड़कर पीछे से पश्चात्ताप करने लगता है। इसी प्रकार हे गौतम! तुम भी प्रमत्त होकर कहीं स्वीकृत संयम भार को न छोड़ देना जिससे पीछे पछताना पड़े। किन्तु अप्रमत्त होकर परीषह उपसर्गों का सामना करते हुए अपने ध्येय की ओर बढ़ते जाना एवं क्षण भर भी संयम में प्रमाद न करना।

(३४) तुम संसाररूप महासागर को करीब करीब तैर चुके हो, अब किनारे पर आकर क्यों ठहरते हो? मुक्तिरूपी तीर पर पहुंचने के लिये शीघ्रता करो। हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद न करो।

(३५) सिद्धिलोक रूप प्रासाद पर चढ़ने के लिये सीढ़ी रूप क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर, हे गौतम! तुम सुखकारी, कल्याणकारी एवं सर्वोत्तम सिद्धिस्थान को प्राप्त करोगे। इसलिये हे गौतम! तुम समयमात्र भी प्रमाद न करो।

(३६) हे गौतम! ग्राम, नगर अथवा अरण्यादि में कहीं भी रहते हुए तुम प्रबुद्ध, शान्त एवं संयत होकर मुनिधर्म का पालन करो एवं भव्यजनों को उपदेश देकर दशविध यतिधर्मरूप शान्ति मार्ग की अभिवृद्धि करो। हे गौतम! इसमें तुम तनिक भी प्रमाद न करो।

(३७) सुन्दर अर्थ और पदों से उपशोभित, बढ़िया ढंग से विस्तारपूर्वक कहा हुआ सर्वज्ञ देव श्री महावीर स्वामी का भाषण सुनकर गौतम स्वामी ने राग और द्वेष का नाश कर दिया एवं वे सिद्धि गति को प्राप्त हुए। (उत्तराध्ययन १० वां अध्ययन)

अड़तीसवाँ बोल

६८५—सूयगडांग सूत्र के ग्यारहवें मार्गाध्ययन की अड़तीस गाथाएं

(१) अहिंसा के उपदेशक सर्वज्ञ श्री महावीर देव ने मोक्ष का कौन सा सरल मार्ग बतलाया है जिस को प्राप्त कर जीव दुस्तर संसार से पार हो जाता है ?

(२) हे महामुने ! सभी दुःखों से छुड़ाने वाले, सर्वश्रेष्ठ, शुद्ध सर्वज्ञोपदिष्ट मुक्तिमार्ग को आप जैसा जानते हैं कृपा कर वैसा ही आप हमें उसे सुनाइये।

(३) यदि देवता अथवा मनुष्य हमें मुक्ति का मार्ग पूछें तो उन्हें कौन सा मार्ग बतलाना चाहिये ? कृपा कर आप हमें उसे कहिये।

(४) सुधर्मास्वामी का उत्तर—यदि कोई देवता या मनुष्य आप से पूछें तो आप उन्हें आगे कहे अनुसार मुक्ति का यथार्थ मार्ग बतलावें। उसी श्रेष्ठ मार्ग को मैं आप से कहता हूँ सो सुनिये।

(५) काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर द्वारा कहा हुआ मार्ग, जिसका आचरण करना कायर पुरुषों के लिये अति कठिन है, क्रमशः मैं तुमसे कहता हूँ। व्यापारी लोग जैसे जहाज से समुद्र को पार कर दूसरे देशों में चले जाते हैं इसी प्रकार इस मार्ग का आश्रय लेकर पहले अनेकों महापुरुष संसार सागर से पार पहुंचे हैं।

(६) सर्वज्ञोपदिष्ट मुक्तिमार्ग का आश्रय लेकर भूतकाल में बहुत से महापुरुष संसार सागर से पार पहुंचे हैं, वर्तमान काल में पार पहुँच रहे हैं एवं भविष्य में पार पहुँचेंगे। तीर्थङ्कर देव से श्रवण कर, मैं वह मार्ग तुम्हें बतलाता हूँ। उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

(७) पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु ये सभी जीव रूप हैं और

इन जीवों के पृथक् पृथक् शरीर हैं। तृण, वृक्ष और बीज रूप वनस्पति भी जीव रूप है। प्रत्येक वनस्पति के जीवों के पृथक् पृथक् शरीर होते हैं और साधारण वनस्पति में अनन्त जीवों के एक ही साधारण शरीर होता है।

(८) उक्त पाँच के सिवाय दूसरे त्रस प्राणी हैं। इस प्रकार कुल मिल कर छः काय कहे गये हैं। इतने ही जीव निकाय हैं इनके सिवाय दूसरा कोई संसारी जीव नहीं है।

(९) बुद्धिमान् पुरुष को अनुकूल युक्तियों द्वारा इन छः काय को जीव रूप जानना चाहिये। ये सभी दुःख के द्वेषी और सुख चाहने वाले हैं ऐसा जानकर किसी जीव की हिंसा न करनी चाहिये।

(१०) ज्ञानी के ज्ञान का यही सार है कि वह वह किसी जीव की हिंसा न करे। तीर्थङ्कर का उपदेश अहिंसा प्रधान है केवल इतना ही जानकर मुमुक्षु को किसी की हिंसा न करनी चाहिये।

(११) ऊपर, नीचे और तिर्छे जो भी त्रस स्थावर प्राणी हैं उनकी हिंसा से निवृत्त होना चाहिये। हिंसा से निवृत्ति यानी अहिंसा ही अपने पराये सभी आत्माओं के लिये शान्ति रूप है एवं निर्वाण प्राप्ति में प्रधान कारण होने से निर्वाण रूप कही गई है।

(१२) मोक्षमार्ग का आचरण करने में समर्थ जितेन्द्रिय व्यक्ति को मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग रूप दोष दूर कर मन वचन काया से कभी किसी से विरोध न करना चाहिये।

(१३) संवर वाले, बुद्धिशील एवं क्षुधा पिपासा आदि परीषहों से क्षुब्ध न होने वाले धीर साधु को स्वामी या उसकी आज्ञा से दिये हुए आहार की एषणा करनी चाहिये। सदा एषणा समिति में उपयोग रखते हुए उसे अनेषणीय आहार का त्याग करना चाहिये।

(१४) साधु के निमित्त संरंभ, समारंभ और आरंभ के कार्यों द्वारा प्राणियों को दुःख पहुँचा कर जो आहार पानी तैयार किया

गया हो,साधु को आधाकर्म दोष वाला वह आहार न लेना चाहिये।

(१५) आधाकर्मी आहार का एक कण भी जिसमें मिला हो वह आहार पूतिकर्म दोष वाला है। साधु को ऐसे दूषित आहार का सेवन न करना चाहिये यह उसका कल्प है। जिसके शुद्ध या अशुद्ध होने में शंका हो वह आहार भी साधु को नहीं कल्पता।

(१६) ग्राम अथवा नगरों में श्रद्धालु धार्मिक गृहस्थों के स्थान होते हैं वहाँ रहा हुआ कोई गृहस्थ धर्मबुद्धि से ऐसे कार्य,जिनमें जीवों की हिंसा होती है, करता है। आत्मा का गोपन करने वाला जितेन्द्रिय साधु उनके धर्माधर्म के सम्बन्ध में कथन कर जीवहिंसा का अनुमोदन न करे।

(१७) इस प्रकार के उपरोक्त वचन सुन कर साधु उनसे पुण्य होता है ऐसा न कहे। उन कार्यों से पुण्य नहीं होता यह भी उसे नहीं कहना चाहिये क्योंकि ऐसा कहना महाभयदायक है।

(१८) दान के निमित्त जिन त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा होती है उन जीवों की रक्षा के लिये साधु को 'पुण्य होता है' ऐसा न कहना चाहिये।

(१६) जिन प्राणियों को दान देने के लिये अन्न जल आदि तैयार किये जाते हैं, पुण्य का निषेध करने से चूँकि उन प्राणियों के अन्तराय पड़ती है इसलिये उन कार्यों में 'पुण्य नहीं होता' ऐसा भी साधु को न कहना चाहिये।

(२०) जो दान की प्रशंसा करते हैं वे प्राणियों के वध की इच्छा करते हैं और जो दान का निषेध करते हैं वे प्राणियों की वृत्ति का छेदन करते हैं।

(२१) उक्त कारणों से दान में पुण्य होता है अथवा पुण्य नहीं होता इस प्रकार दोनों ही बात साधु नहीं कहते। ऐसा करने वाले साधु कर्म का आगमन रोक कर निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

(२२) निर्वाण ही को प्रधान मानने वाला मुमुक्षु तत्त्वज्ञ साधु नक्षत्रों में चन्द्रमा की तरह, सभी पुरुषों में श्रेष्ठ है। इसलिये यतनावान् एवं जितेन्द्रिय मुनि सदा मोक्ष के लिये ही सभी क्रियाएं करे।

(२३) मिथ्यात्व कषाय प्रमाद आदि के प्रवाह में बहते हुए एवं अपने कर्मों से दुःखित हुए शरणरहित प्राणियों को संसार परिभ्रमण से विश्राम देने के लिये तीर्थङ्कर एवं गणधरों ने सम्यग् दर्शन आदि का कथन किया है। सम्यग्दर्शनादि से संसार भ्रमण रुक जाता है एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा तत्त्वज्ञों का कथन है।

(२४) मन वचन काया द्वारा आत्मा को पाप से रक्षा करने वाला जितेन्द्रिय, मिथ्यात्वादि रूप संसार प्रवाह का छेदन करने वाला, आश्रव रहित महात्मा समस्त दोषों से रहित शुद्ध एवं प्रतिपूर्ण अनुपम धर्म का उपदेश करता है।

(२५) उक्त शुद्ध धर्म को न जानने वाले, विवेक शून्य, पण्डिताभिमानी अन्यतीर्थी लोग समझते हैं कि हम ही धर्म तत्त्व के जानकार हैं किन्तु वास्तव में वे भाव समाधि से बहुत दूर हैं।

(२६) जीव अजीव विषयक ज्ञान रहित अन्यतीर्थी लोग बीज, कच्चे पानी तथा उनके निमित्त बनाये हुए आहार का उपभोग करते हैं। साता, ऋद्धि और रस में आसक्त होकर उनकी प्राप्ति के लिये वे आर्त्तध्यान करते हैं। इस प्रकार वे धर्म अधर्म के विवेक में अकुशल हैं एवं सम्यग्दर्शनादि रूप भावसमाधि से हीन हैं।

(२७) जैसे ढंक, कंक, कुलल, जलकाक और सिंधी नामक जलचर पक्षी मछली की गवेषणा का कलुषित अधम ध्यान करते हैं।

(२८) इसी प्रकार कई एक मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण नामधारी व्यक्ति विषय प्राप्ति के ध्यान में लीन रहते हैं। ये लोग भी कंकादि पक्षियों की तरह ही कलुषित परिणाम वाले और अधम हैं।

(२९) कई दुर्बुद्धि लोग कुमार्ग की प्ररूपणा कर सम्यग्दर्शन

आदि रूप शुद्ध मोक्षमार्ग की विराधना करते हैं एवं संसार बढ़ाने वाले उन्मार्ग का आचरण करते हैं। ऐसा करने वाले ये लोग वस्तुतः दुःख एवं मृत्यु की ही प्रार्थना करते हैं।

(३०) जैसे जन्मान्ध पुरुष छिद्र वाली नाव पर सवार होकर नदी के पार जाना चाहता है किन्तु वह बीच ही में डूब जाता है।

(३१) इसी तरह कई एक मिथ्यादृष्टि अनार्य कर्म करने वाले श्रमण पूर्णरूप से कर्माश्रव रूप प्रवाह में बह रहे हैं। ये लोग प्रवाह को पार करने के बदले यहीं महाभयावह दुःख प्राप्त करेंगे।

(३२) काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर से कहे हुए इस श्रुत चारित्ररूप धर्म को स्वीकार कर बुद्धिमान् पुरुष को संसार पर्यटन रूप भीषण भावस्रोत को पार करना चाहिये तथा पाप कर्मों से आत्मा की रक्षा करने के लिये संयम का पालन करना चाहिये।

(३३) शब्दादि इन्द्रिय विषयों में रागद्वेष का त्याग करने वाले आत्मार्थी साधु को, संसार के प्राणियों को अपनी ही तरह सुख चाहने वाले और दुःख के द्वेषी जान कर उनकी रक्षा में पराक्रम करते हुए संयम का पालन करना चाहिये।

(३४) विवेकशील मुनि को अति मान और माया तथा क्रोध और लोभ रूप कषाय को संसार बढ़ाने वाली एवं संयम का नाश करने वाली जान कर इन सभी का त्याग करना चाहिये तथा मोक्ष ही का अनुसन्धान करना चाहिये।

(३५) साधु क्षमा आदि दशविध यति धर्म की वृद्धि करे और पापमय हिंसात्मक धर्म का त्याग करे। तप में अधिकाधिक शक्ति लगाते हुए उसे क्रोध और मान की प्रार्थना न करनी चाहिये।

(३६) जैसे तीन लोक सभी प्राणियों के लिये आधारभूत हैं उसी तरह भूत, भविष्य एवं वर्तमानकालीन तीर्थङ्करों के तीर्थङ्करत्व का आधार शान्ति अर्थात् भावमार्ग है। इसका आश्रय

लिये बिना वे तीर्थङ्कर ही नहीं हो सकते।

(३७) भावमार्ग को अङ्गीकार कर व्रत धारण करने वाले साधु को यदि छोटे बड़े अनुकूल प्रतिकूल परीषह उपसर्ग सताने लगें तो साधु को उनके वश होकर संयम से विचलित न होना चाहिये। आँधी और तूफान में जैसे पहाड़ अडिग रहता है उसी प्रकार उसे भी संयम में स्थिर रहना चाहिये।

(३८) आश्रव द्वारों का निरोध करने वाले, महा बुद्धिशील, धीर साधु को दूसरे से दिया हुआ शुद्ध एषणीय आहार ग्रहण करना चाहिये। कषायाग्नि को शान्त कर उसे जीवन पर्यन्त सर्वज्ञ देव द्वारा प्रतिपादित इस मार्ग की अभिलाषा रखनी चाहिये।

(सूयगडांग सूत्र ११ वां अध्ययन)

उनचालीसवाँ बोल

९८६–समय क्षेत्र के उनचालीस कुलपर्वत

जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध ये ढाई द्वीप हैं। इनमें तथा इनके विभाजक समुद्रों में मनुष्य रहते हैं इसलिये इन्हें मनुष्य क्षेत्र कहा जाता है। सूर्य की गति से होने वाले घड़ी, घण्टा, दिन, पक्ष, मास, वर्ष, युग आदि समय की कल्पना भी इन्हीं क्षेत्रों में की जाती है इसलिये इन्हें समयक्षेत्र भी कहा जाता है। क्षेत्रों की मर्यादा करने वाले पर्वत कुलपर्वत कहे जाते हैं। ढाई द्वीप में उनचालीस कुल-पर्वत हैं। जम्बूद्वीप में चुल्लहिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह वर्षधर पर्वत हैं। धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध में बारह बारह वर्षधर पर्वत हैं। वहाँ उक्त छहों पर्वत दो दो की संख्या में हैं। इस प्रकार ३० वर्षधर पर्वत हुए। ढाई द्वीप में पाँच सुमेरु पर्वत हैं। एक जम्बूद्वीप में, दो धातकीखण्ड में और दो पुष्करार्द्ध में। धातकीखण्ड द्वीप के मध्य भाग में दक्षिण और उत्तर

में एक एक इषुकार पर्वत है। इन इषुकार पर्वतों द्वारा यह द्वीप पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध इन दो भागों में विभक्त हो गया है। धातकीखण्ड की तरह पुष्करार्द्ध द्वीप में भी दो इषुकार पर्वत हैं। इस प्रकार समय क्षेत्र में तीस वर्षधर, पाँच सुमेरु और चार इषुकार ये उनचालीस कुल पर्वत हैं। (समवायांग ३९)

चालीसवां बोल संग्रह

९८७-खर बादर पृथ्वीकाय के चालीस भेद

पृथ्वीकाय के दो भेद हैं- सूक्ष्म पृथ्वीकाय और बादर पृथ्वीकाय। बादर पृथ्वीकाय, श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय और खर बादर पृथ्वीकाय के भेद से दो प्रकार की है। खरबादर पृथ्वीकाय के यों तो अनेक भेद हैं पर मुख्य रूप से चालीस कहे गये हैं। वे ये हैं-

पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिला य लोणूसे।
अय तंब तउय सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥ ७३ ॥
हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजण पवाले।
अब्भपडलब्भ वालुय बायरकाय मणि विहाणा ॥७४॥
गोमेज्जए य रुयए अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगय मसारगल्ले भुजमोयग इंदणीले य ॥ ७५ ॥
चंदण गेरुय हंसगब्भ पुलए सोगंधिए य बोद्धव्वे।
चंदप्पभ वेरुलिए जलकंते सूरकंते य ॥ ७६ ॥

(उत्तराध्ययन अध्ययन ३६)

अर्थ-(१) शुद्ध पृथ्वी (२) शर्करा (३) वालुका (४) पत्थर (५) शिला (६) लवण (७) ऊष (८) लोहा (९) ताँबा (१०) त्रपु-कथीर (११) सीसा (१२) चांदी (१३) सोना (१४) वज्र-हीरा (१५) हरताल (१६) हिंगलु (१७) मनःशिला (१८) सासग-पारा (१९) अंजन (२०) प्रवाल-मूंगा (२१) अभ्रपटल-अभरख(भोडल).

(२२) अभ्रवालुका—अभरख से मिली हुई वालू (२३) गोमेज्जक (२४) रुचक (२५) अंक (२६) स्फटिक (२८ लोहिताक्ष (२८) मरकत (२६) मसारगल्ल (३०) भुजमोचक (३१) इन्द्रनील ३२) चन्दन (३३ गैरिक ३४) हँस गर्भ (३५) पुलक (३६) सौगन्धिक (३७) चन्द्रप्रभ (३८ वैडूर्य (३६) जलकान्त (४०) सूर्य कान्त।

तेईस से चालीस तक के अठारह भेद मणियों के नाम हैं।

(प्रज्ञापना प्रथम पद सूत्र १५)

६८८—दायक दोष से दूषित चालीस दाता

एषणा ग्रहणैषणा) के शंकितादि दस दोष हैं। उनमें छठा दायक दोष है। जिन व्यक्तियों से दान ग्रहण करने में साधु के आचार में दोष लगने की सम्भावना रहती है उनसे आहारादि ग्रहण करना दायक दोष है। पिण्डनिर्युक्तिकार ने साधु को चालीस व्यक्तियों से दान लेने के लिये मना किया है और उनसे दान लेने में होने वाले दोष दिखलाये हैं। इसलिये ग्रहणैषणा की शुद्धि के लिये साधु को उनसे दान न लेना चाहिये। चालीस व्यक्तियों के नाम इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ६६३ पृष्ठ २४३ में दिये गये हैं।

इकतालीसवां बोल

६८६—उदीरणा बिना उदय में आने वाली इकतालीस प्रकृतियाँ

काल प्राप्त कर्म परमाणुओं का अनुभव करना उदय है जिन कर्म परमाणुओं के फल भोग का समय नहीं हुआ है और जो उदयावलिका के बाहर रहे हुए हैं उन्हें कषाय सहित अथवा कषाय रहित योग नामवाले वीर्य विशेष से खींच कर, उदयप्राप्त कर्म परमाणुओं के साथ भोगना उदीरणा कहलाता है। उदय और

उदीरणा के स्वामित्व में कोई विशेष नहीं है। जो जीव ज्ञानावरण आदि कर्मों के उदय का स्वामी है वही उन कर्मों की उदीरणा का भी स्वामी है। कहा भी है–'जत्थ उदओ तत्थ उदीरणा जत्थ उदीरणा तत्थ उदओ' अर्थात् जहाँ उदय है वहाँ उदीरणा है और जहाँ उदीरणा है वहाँ उदय है। किन्तु ४१ प्रकृतियाँ इस नियम की अपवाद रूप हैं। इनका उदीरणा के बिना ही उदय होता है।

इकतालीस प्रकृतियाँ ये हैं–ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियाँ, अन्तराय की पाँच प्रकृतियाँ, दर्शनावरण की नौ प्रकृतियाँ, वेदनीय की दो प्रकृतियाँ, मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, संज्वलन लोभ, तीन वेद, चार आयु, नामकर्म की नौ प्रकृतियाँ, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थङ्कर नाम तथा उच्चगोत्र।

ज्ञानावरण की पाँच, अन्तराय की पाँच और दर्शनावरण की चार–चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण–इन चौदह प्रकृतियों के उदय और उदीरणा, बारहवें गुणस्थान में एक आवलिका शेष रहे तब तक, सभी जीवों के एक साथ होते हैं। आवलिका शेष रहने पर उदय ही होता है क्योंकि आवलिका के अन्तर्गत प्रकृतियाँ उदीरणा योग्य नहीं होतीं।

शरीरपर्याप्ति की समाप्ति के बाद जीवों के जब तक इन्द्रियपर्याप्ति की समाप्ति नहीं होती तब तक उन्हें निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि का उदय ही होता है, इनकी उदीरणा नहीं होती। शेष काल इनके उदय उदीरणा एक साथ प्रवृत्त होते हैं और साथ ही निवृत्त होते हैं।

वेदनीय की दोनों प्रकृतियों के उदय उदीरणा प्रमत्तगुणस्थान तक साथ होते हैं। आगे इनका उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती।

प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय अन्तरकरण कर लेने पर

मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति में एक आवलिका शेष रहने पर जीव के मिथ्यात्व का उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती।

क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करता हुआ वेदकसम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का क्षय कर सम्यक्त्व मोहनीय का, सर्व अपवर्तना द्वारा अपवर्तना कर उसे अन्तर्मुहूर्त की स्थितिमात्र रख देता है। इसके बाद उदय और उदीरणा द्वारा भोगते भोगते जब सम्यक्त्व मोहनीय की स्थिति आवलिका मात्र रह जाती है तब सम्यक्त्व मोहनीय का उदय होता है उसकी उदीरणा नहीं होती। अथवा उपशम श्रेणी पर चढ़ते हुए जीव के सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तरकरण कर लेने के बाद प्रथम स्थिति में जब आवलिका मात्र शेष रह जाती है तब उसके सम्यक्त्व मोहनीय का उदय ही रहता है उदीरणा नहीं होती।

सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान की आवलिका शेष रहने तक संज्वलन लोभ के उदय उदीरणा साथ प्रवृत्त होते हैं। आवलिका शेष रहने पर संज्वलन लोभ का उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती।

तीनों वेदों में से किसी भी वेद वाला जीव श्रेणी चढ़ता हुआ अन्तरकरण करके अपने वेद की पहली स्थिति में से एक आवलिका शेष रख देता है उस समय उस जीव के उस वेद का उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती।

अपने अपने भव की स्थिति में अन्तिम आवलिका शेष रहने पर आयु कर्म की चारों प्रकृतियों का उदय ही होता है। उदीरणा नहीं होती। मनुष्य आयु की प्रमत्त गुणस्थान के आगे उदीरणा नहीं होती किन्तु सिर्फ उदय ही होता है।

नामकर्म की नौ प्रकृतियाँ और उच्चगोत्र इन दसों प्रकृतियों के, सयोगी केवली गुणस्थान तक एक साथ उदय उदीरणा होते हैं। अयोगी अवस्था में इनका केवल उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती। (सप्ततिका नामक छठा कर्मग्रन्थ गाथा ५४-५५)

बयालीसवाँ बोल संग्रह

९९०–आहारादि के बयालीस दोष

एषणा समिति के तीन भेद हैं–गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा परिभोगैषणा। गवेषणैषणा की शुद्धि के लिये १६ उद्गम दोष और १६ उत्पादन दोषों का परिहार करना चाहिये। इन दोषों के नाम और इनका स्वरूप इसी ग्रन्थ के पाँचवें भाग में बोल नं० ८६५ और ८६६ में दिये गये हैं। ग्रहणैषणा की शुद्धि के लिये साधु को शंकितादि दस एषणा दोषों का त्याग करना चाहिये। इन दस दोषों के नाम तथा उनके स्वरूप इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ६६३ में दिये गये हैं। सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादान दोष और दस एषणा (ग्रहणैषणा) दोष–ये तीनों मिला कर आहारादि के बयालीस दोष कहे जाते हैं।

९९१–नामकर्म की बयालीस प्रकृतियाँ

चौदह पिण्ड प्रकृति, आठ प्रत्येक प्रकृति, त्रस दशक और स्थावर दशक इस प्रकार नामकर्म की बयालीस प्रकृतियाँ हैं। इनके नाम, व्याख्या तथा पिण्ड प्रकृतियों के अवान्तर भेद और उनके स्वरूप इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ५९० (आठ कर्म) के अन्तर्गत नाम कर्म के वर्णन में दिये गये हैं। (प्रज्ञापना २३ पद उद्देशा २)

९९२–आश्रव के बयालीस भेद

जिन कारणों से आत्मा में शुभ अशुभ कर्म आते हैं वे आश्रव कहलाते हैं। तत्त्वज्ञों ने संक्षेप से आत्मा में कर्म आने के बयालीस कारण बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं––

इंदिय कसाय अव्वय किरिया पण चउर पंच पणवीसा।
जोगतिगं बायाला आसवभेया (इमा किरिया) ॥

भावार्थ–पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच अव्रत, पच्चीस क्रियाएं और तीन योग ये बयालीस आश्रव के भेद हैं।

इन्द्रिय आदि के भेदों के नाम और स्वरूप इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में दिये गये हैं। पाँच इन्द्रिय और पाँच अव्रत बोल नं० २८९ में है। चार कषाय बोल नं० १५८ और तीन योग बोल नं० ९५ में दिये गये हैं। पच्चीस क्रियाएं पाँच पाँच करके बोल नं० २९२ से २९६ तक में दी गई हैं।

९९३–पुण्य प्रकृतियाँ बयालीस

आठ कर्मों की प्रकृतियों में कुछ शुभ फल देने वाली हैं और शेष अशुभ फल देने वाली हैं। शास्त्रकारों ने शुभाशुभ फल के भेद से उन्हें पुण्य प्रकृतियाँ और पाप प्रकृतियाँ कही हैं। पाप प्रकृतियाँ ८२ और पुण्य प्रकृतियाँ ४२ हैं। पुण्य प्रकृतियों के नाम ये हैं–

तिरि णरसुराउ उच्चं, सायं परघाय आयवुज्जोयं।
जिण ऊसास णिम्माणं, पणिंदिवइरुसभ चउरंसं॥
तस दस चउवण्णाई, सुरमणुदुग पंचतणु उवंगतिगं।
अगुरुलहु पढमखगई, बायाला पुण्णपगईओ॥

(१) तिर्यञ्चायु (२) मनुष्यायु (३) देवायु (४) उच्चगोत्र (५) सातावेदनीय (६) पराघात नाम (७) आतप नाम (८) उद्योत नाम (९) तीर्थङ्कर नाम (१०) श्वासोच्छ्वास नाम (११) निर्माण नाम (१२) पञ्चेन्द्रिय जाति (१३) वज्रऋषभ नाराच संहनन (१४) समचतुरस्र संस्थान (१५) (त्रस दशक) त्रस नाम (१६) बादर नाम (१७) पर्याप्त नाम (१८) प्रत्येक नाम (१९) स्थिर नाम (२०) शुभ नाम (२१) सुभग नाम (२२) सुस्वर नाम (२३) आदेय नाम (२४) यशःकीर्ति नाम (२५) शुभ वर्ण (२६) शुभ गन्ध (२७) शुभ रस (२८) शुभ स्पर्श (२९) देव गति (३०) देवानुपूर्वी (३१) मनुष्यगति (३२) मनुष्यानुपूर्वी (३३) औदारिक शरीर (३४)

वैक्रिय शरीर (३५) तैजस शरीर (३६) आहारक शरीर (३७) कार्मण शरीर (३८) औदारिक अंगोपांग (३९) वैक्रिय अंगोपांग (४० आहारक अंगोपांग (४१) अगुरुलघु नाम (४२) शुभ-विहायोगति—ये बयालीस पुण्य प्रकृतियाँ हैं। (कर्म ग्रन्थ पांचवां)

नोट—इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ६३२ (नौ तत्व) में पुण्य तत्त्व और पाप तत्त्व में क्रमशः ४२ पुण्य प्रकृतियाँ और ८२ पाप प्रकृतियाँ दी गई हैं।

तयालीसवां बोल

९९४—प्रवचन संग्रह तयालीस

१—धर्म

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥ १ ॥

भावार्थ—धर्म सर्व श्रेष्ठ मंगल है। अहिंसा संयम और तप धर्म के प्रकार हैं। जिस पुरुष का चित्त सदा धर्म में लगा रहता है उसे देवता भी मस्तक झुकाते हैं। (दशवैकालिक पहला अ० गाथा १)

धम्मो ताणं धम्मो सरणं धम्मो गई पइट्ठा य।
धम्मेण सुचरिएण य गम्मइ अजरामरं ठाणं ॥ २ ॥

भावार्थ—धर्म त्राण और शरण रूप है. धर्म ही गति है तथा धर्म ही आधार है। धर्म की सम्यग् आराधना करने से जीव अजर अमर स्थान यानी मोक्ष प्राप्त करता है। (तंदुलवेयालिय गाथा ३३)

जरामरणवेगेण, वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जरा और मरण के प्रवाह में वहते हुए प्राणियों के

लिये धर्म ही एक मात्र द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है और उत्तम शरण है। (उत्तराध्ययन तेइसवां अध्ययन गाथा ६८)

मरिहिसि राय ! जया तया वा, मणोरमे कामगुणे विहाय।
इक्को हु धम्मो नरदेव ताणं, न विज्जई अण्णमिहेह किंचि ।४।

भावार्थ-हे राजन् ! इन मनोरम शब्द रूप आदि कामगुणों का त्याग कर एक दिन अवश्य मरना होगा। उस समय केवल एक धर्म ही शरण रूप होगा। हे नरदेव ! इस संसार में धर्म के सिवाय आत्मा की रक्षा करने वाला कोई नहीं है।

(उत्तराध्ययन चौदहवां अध्ययन गाथा ४०)

लब्भंति विमला भोगा, लब्भंति सुरसंपया।
लब्भंति पुत्त मित्तं च, एगो धम्मो न लब्भइ ॥ ५ ॥

भावार्थ-मनोरम प्रधान भोग सुलभ हैं, देवता की सम्पत्ति पाना भी सहज है। इसी प्रकार पुत्र मित्रों का सुख भी प्राप्त हो जाता है किन्तु धर्म की प्राप्ति होना दुर्लभ है। (प्रास्ताविक)

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥ ६ ॥

भावार्थ-जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, जब तक व्याधियाँ नहीं बढ़तीं, जब तक इन्द्रियों की शक्ति हीन नहीं होती तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिये।

(दशवैकालिक आठवां अध्ययन गाथा ३६)

अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेज्जो पवज्जई।
गच्छंतो सो सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ ॥ ७ ॥
एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छंतो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥ ८ ॥

भावार्थ-जो पथिक पाथेय (भाता) साथ लेकर लम्बी यात्रा

करता है वह रास्ते में भूख और प्यास से तनिक भी पीड़ित न होकर अत्यन्त सुखी होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य यहाँ भलि-भाँति धर्म की आराधना कर परलोक में जाता है। वह वहाँ अल्प-कर्म वाला एवं वेदनारहित होकर परम सुखी होता है।

(उत्तराध्ययन उन्नीसवा अध्ययन गाथा २०-२१)

२—नमस्कार माहात्म्य

ते अरिहंता सिद्धाऽऽयरिओवज्झाय साहवो नेया।
जे गुणमयभावाओ गुणा व पुज्जा गुणत्थीणं ॥ १ ॥

भावार्थ-अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये ज्ञानादि गुण सहित हैं। अतएव गुणाभिलाषी भव्यात्माओं के लिये ये मूर्तिमान गुणों की तरह पूज्य हैं।

मोक्खत्थिणो व जं मोक्खहेगवो दंसणादितियगं व।
तो ते ऽभिवंदणिज्जा जइ व मई हेयवो कह ते ॥ २ ॥

भावार्थ-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की तरह ये पाँचों पद मुमुक्षुओं के मोक्ष के हेतु हैं। अतएव वे उनके वन्दनीय हैं। पाँचों पद मोक्ष के हेतु इस प्रकार हैं—

मग्गो अविप्पणासो आयारे विणययां सहायत्तं।
पंचविहणमोक्कारं करेमि एएहिं हेऊहिं ॥ ३ ॥

भावार्थ-सम्यग्दर्शनादि रूप मुक्ति का मार्ग अरिहन्त भगवान् का दिखाया हुआ है। सिद्धों के अविनश्वर शाश्वतत्व गुण को जान कर प्राणी संसार से विमुख होकर मोक्ष के लिये प्रयत्न करते हैं। आचार्य स्वयं आचारवन्त एवं आचार के उपदेशक होते हैं, उन्हें प्राप्त कर भव्यजीव ज्ञानादि आचार का ज्ञान प्राप्त करते हैं एवं उनका आचरण करते हैं। उपाध्याय को प्राप्त कर भव्यात्मा कर्म नाश करने वाले ज्ञानादि विनय की आराधना करते हैं।

साधु मुक्ति की लालसा वाले प्राणियों को मोक्ष योग्य अनुष्ठानों की साधना में सहायक होते हैं। इस प्रकार उक्त पाँचों पद मोक्ष प्राप्ति के हेतु रूप हैं। इसलिये मैं उक्त पंच परमेष्ठी को नमस्कार करता हूँ। (विशेषावश्यक भाष्य गाथा २९४२-२९४४)

अरहन्त णमुक्कारो जीवं मोएइ भवसहस्साओ।
भावेण कीरमाणो होइ पुण बोहिलाभाए ॥ ४ ॥

भावार्थ–भाव पूर्वक किया हुआ अर्हन्नमस्कार आत्मा को अनन्त भवों से छुड़ाकर मुक्ति की प्राप्ति कराता है। यदि उसी भव में मुक्ति का लाभ न हो तो जन्मान्तर में यह नमस्कार बोधि यानी सम्यग्दर्शन का कारण होता है।

अरिहंत णमुक्कारो धण्णाण भवक्खयं कुणंताणं।
हिययं अणुम्मुअंतो विसुत्तियावारओ होइ ॥ ५ ॥

भावार्थ–ज्ञानादि धन वाले तथा जीवन एवं पुनर्भव का क्षय करने वाले महात्माओं के हृदय में रहा हुआ यह अरिहन्त-नमस्कार दुर्ध्यान का निवारण कर धर्मध्यान का आलम्बन रूप होता है।

अरिहंत णमुक्कारो एवं खलु वण्णिओ महत्थुत्ति।
जो मरणम्मि उवग्गे अभिक्खणं कीरए बहुसो ॥ ६ ॥

भावार्थ–यह अर्हन्नमस्कार महान् अर्थ वाला कहा गया है। अल्प अक्षर वाले भी इस नमस्कार पद में द्वादशांगी का अर्थ रहा हुआ है। यही कारण है कि मृत्यु के समीप होने पर निरन्तर इसी का बार बार स्मरण किया जाता है। बड़ी आपत्ति आने पर भी द्वादशांगी के बदले इसी का स्मरण किया जाता है।

अरिहंत णमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो।
मगंलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ॥ ७ ॥

भावार्थ–अर्हन्नमस्कार सभी पापों का–कर्मों का–नाश करने

वाला है। विश्व के सभी मंगलों में यह प्रधान मंगल है।

(हरिभद्रीयावश्यक नमस्कार विभाग गाथा ६२३-३२६)

नोट—सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु नमस्कार का माहात्म्य बतलाने के लिये भी यही चार चार गाथाएं उक्त ग्रन्थ में दी हैं। अरिहन्त के बदले यथायोग्य सिद्ध आचार्यादि पद दिये हुए हैं।

इहलोए अत्थकामा आरोग्गं अभिरई य निप्फत्ती।
सिद्धी य सग्ग सुकुल पच्चायाई य परलोए ॥ ८ ॥

भावार्थ—नमस्कार से इहलोक में अर्थ, काम, आरोग्य, अभिरति और पुण्य की प्राप्ति होती है एवं परलोक में सिद्धि, स्वर्ग एवं उत्तम कुल की प्राप्ति होती है। (विशेषावश्यक भाष्य गाथा ३२२३)

एसो पंच णमोक्कारो सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ॥ ९ ॥

भावार्थ—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—इन पाँचों पदों का यह नमस्कार सभी पापों का नाश करने वाला है। संसार के सब मंगलों में यह यह प्रथम (मुख्य) मंगल है।

(आवश्यक मलयगिरि १ अध्ययन २ खण्ड)

३—निर्ग्रन्थ प्रवचन महिमा

तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ॥ १ ॥

भावार्थ-राग द्वेष को जीतने वाले पूर्णज्ञानी तीर्थङ्कर देव ने जो कहा है वही सत्य और असदिग्ध है। (आचारांग अ० ५ उ० ५ सूत्र १६३)

इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलए संसुद्धे पडिपुण्णे णेआउए सल्लकत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे णिव्वाणमग्गे णिज्जाणमग्गे अवितहमविसंधि सव्व दुक्खप्पहीणमग्गे। इहट्ठिआ जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाण मंतं करंति ॥ २ ॥

भावार्थ—यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य, सर्व प्रधान और अद्वितीय है। यह शुद्ध (निर्दोष) पूर्ण और प्रमाण से अबाधित है। मायादि शल्यों का यह नाश करने वाला है एवं सिद्धि, मुक्ति और निर्वाण का मार्ग है। यह यथार्थ एवं पूर्वापर विरोध रहित है। इस मार्ग को अंगीकार करने से सभी दुःखों का नाश हो जाता है। इसका आश्रय लेने वाले सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होते हैं। वे निर्वाण को प्राप्त करते हैं एवं सभी दुःखों का नाश करते हैं।

(हरिभद्रीयावश्यक प्रतिक्रमणाध्ययन) (औपपातिक सूत्र ३४)

जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयणं जे करेंति भावेणं।
अमला असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारी ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो जिनागम में अनुरक्त हैं और जो भावपूर्वक जिन भाषित अनुष्ठानों का सेवन करते हैं। राग द्वेष रूप क्लेश से रहित वे पवित्रात्मा परित्तसंसारी होते हैं।

(उत्तराध्ययन अध्ययन ३६ गाथा २५८)

४—आत्मा

नोइंदियग्गिज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ॥
अज्झत्थहेउं नियय़स्स बंधो,
संसारहेउं च वयंति बंधं ॥ १ ॥

भावार्थ—आत्मा अमूर्त होने से इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता और अमूर्त होने से ही वह नित्य है। आत्मा में रहे हुए मिथ्यात्व अज्ञान आदि दोषों से कर्मबन्ध होता है और यही बन्ध संसार परिभ्रमण का कारण कहा जाता है।

(उत्तराध्ययन अध्ययन चौदहवां गाथा १९)

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥ २ ॥

भावार्थ-ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग ये जीव के लक्षण हैं। (उत्तराध्ययन अट्ठाईसवां अध्ययन गाथा ११)

जे आया से विण्णाया। जे विण्णाया से आया। जेण विजाणइ से आया तं पडुच्च पडिसंखाए। एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए ॥ ३ ॥

भावार्थ-जो आत्मा है वह विज्ञाता (ज्ञान वाला) है। जो विज्ञाता है वह आत्मा है। जिस ज्ञान द्वारा जानता है वह आत्मा है। ज्ञान की विशिष्ट परिणति की अपेक्षा आत्मा भी उसी (ज्ञान के) नाम से कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञान और आत्मा की एकता जानने वाला ही आत्मवादी है और उसी की पर्याय (संयमानुष्ठान) सम्यक् कही गई है।

(आचारांग पाँचवा अध्ययन पाँचवां उद्देशा सूत्र १६६)

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे णंदणं वणं ॥ ४ ॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य, सुहाण य दुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥ ५ ॥

भावार्थ-आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी तथा कूट शाल्मली वृक्ष है और यही स्वर्ग की कामदुघा धेनु और नन्दनवन है।

सदनुष्ठानरत आत्मा सुख देने वाला और दुःख दूर करने वाला है और दुराचार प्रवृत्त यही आत्मा दुःख देने वाला और सुखों का छीनने वाला हो जाता है। सदनुष्ठानरत आत्मा उपकारी होने से मित्र रूप है एवं दुराचार प्रवृत्त यही आत्मा अपकारी होने से शत्रु रूप है। इस प्रकार आत्मा ही सुख दुःख का देने वाला और यही मित्र और शत्रु रूप है।

(उत्तराध्ययन बीसवां अध्ययन गाथा ३६-३७)

पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे पुरुष ! सदनुष्ठान करने वाला यह तेरा आत्मा ही तेरा मित्र है फिर मित्र की बाहर क्या खोज करता है ?

(आचारांग तीसरा अध्ययन तीसरा उद्देशा सूत्र ११८)

न तं अरी कंठछेत्ता करेइ जं से करे अप्पणिया दुरप्पया।
से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥

भावार्थ—सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता जितना कि दुराचार में लगा हुआ अपना आत्मा करता है। दया-शून्य दुराचारी पहले कुछ विचार नहीं करता किन्तु जब वह अपने को मृत्यु के मुख में पाता है तो अपने दुराचरणों को याद कर कर पछताता है। (उत्तराध्ययन बीसवां अध्ययन गाथा ४८)

५—सम्यग्दर्शन

अरिहंतो मह देवो जावज्जीवाय सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं इअ सम्मत्तं मए गहियं॥ १॥

भावार्थ—जीवन पर्यन्त अरिहंत भगवान् मेरे देव हैं, पंच महाव्रतधारी सुसाधु मेरे गुरु हैं एवं वीतराग प्ररूपित तत्त्व ही धर्म है। इस प्रकार मैंने सम्यक्त्व धारण किया है। (आवश्यक सूत्र)

परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि।
वावण्ण कुदंसण वज्जणा य सम्मत्त सद्दहणा॥ २॥

भावार्थ—परमार्थ यानी जीवादि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर उसका मनन करना, परमार्थ का यथार्थ स्वरूप जानने वाले महात्माओं की सेवा भक्ति करना, सम्यक्त्व से गिरे हुए पुरुषों की एवं कुदर्शनियों की संगति न करना यही सम्यक्त्व का श्रद्धान है।

(उत्तराध्ययन अध्ययन २८ गाथा २८)

अंतोमुहुत्तमित्तं पि फासिअं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।
तेसिं अवड्ढपुग्गल परिअट्टो चेव संसारो॥ ३॥

भावार्थ-जिन जीवों ने सिर्फ अन्तर्मुहूर्त के लिये भी सम्यक्त्व का स्पर्श किया है उन जीवों का अर्द्धपुद्गलपरावर्तन से कुछ कम संसारपरिभ्रमण ही शेष रह जाता है।

(धर्मसंग्रह दूसरा अधिकार श्लोक २१ टीका)

संबुज्झह किं न बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हू वणमंति राइओ नो सुलभं पुणरवि जीवियं॥४॥

भावार्थ-समझो, क्यों नहीं समझते? परलोक में सम्यक् बोधि का प्राप्त होना अति कठिन है। बीती हुई रात्रियां कभी लौट कर नहीं आतीं। मनुष्यजीवन का दुबारा पाना भी सहज नहीं है।

(सूयगडांग दूसरा अ० पहला उ० गाथा १)

न वि तं करेइ अग्गी नेअ विसं किण्हसप्पो अ।
जं कुणइ महादोसं तिव्वं जीवस्स मिच्छत्तं॥५॥

भावार्थ-तीव्र मिथ्यात्व आत्मा का जितना अहित एवं बिगाड़ करता है उतना बिगाड़ अग्नि, विष और काला नाग भी नहीं करते।

(भक्त परिज्ञा प्रकीर्णक गाथा ६१)

नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न होंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं॥६॥

भावार्थ-सम्यक्त्व विहीन पुरुष को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और सम्यग्ज्ञान बिना चारित्र गुण प्रगट नहीं होते। गुण-रहित पुरुष का मोक्ष-सभी कर्मों का क्षय-नहीं होता एवं कर्म-क्षय किये बिना सिद्धिपद की प्राप्ति नहीं होती।

(उत्तराध्ययन अध्ययन २८ गाथा ३०)

समियं ति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया होइ उवेहाए॥७॥

भावार्थ-सम्यक्त्वधारी आत्मा की भावना सम्यक् होती है इसलिये उसे सम्यक् अथवा असम्यक् कोई भी बात सम्यक् रूप

से ही परिणत होती है। (आचाराग पांचवा अध्ययन पांचवां उ० सूत्र १६४)

दंसणभट्ठो भट्ठो न हु भट्ठो होइ चरणपब्भट्ठो।
दंसणमणुपत्तस्स हु परिअडणं नत्थि संसारे ॥ ८ ॥

भावार्थ–चारित्रभ्रष्ट आत्मा भ्रष्ट नहीं है किन्तु दर्शनभ्रष्ट (श्रद्धा से गिरा हुआ) आत्मा ही वास्तव में भ्रष्ट है। सम्यग्दर्शन वाला जीव संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं।
सिज्झंति चरणरहिआ दंसणरहिया न सिज्झंति ॥ ९ ॥

भावार्थ–सम्यग्दर्शन से गिरे हुए आत्मा का सचमुच ही पतन समझना चाहिये। ऐसे व्यक्ति को निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। चारित्र (द्रव्यचारित्र) रहित व्यक्ति सिद्ध हो जाते हैं किन्तु सम्यग्दर्शन रहित व्यक्ति का सिद्धि प्राप्त करना संभव ही नहीं है।

(भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक गाथा ६५, ६६)

जं सक्कइ तं कीरइ जं न सक्कइ तयम्मि सद्दहणा।
सद्दहमाणो जीवो वच्चइ अयरामरं ठाणं ॥ १० ॥

भावार्थ–जिसका आचरण हो सके उसका आचरण करना चाहिये एवं जिसका आचरण न हो सके उस पर श्रद्धा रखनी चाहिये। श्रद्धा रखता हुआ जीव जरा एवं मरण रहित मुक्ति का अधिकारी होता है। (धर्मसंग्रह द्वितीय अधिकार श्लोक २१ टीका)

६—सम्यग्ज्ञान

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेय पावगं ॥ १ ॥

भावार्थ–पहले ज्ञान और उसके बाद दया अर्थात् क्रिया है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया दोनों को स्वीकार करने से ही साधु अपने आचार का पालन कर सकता है। अज्ञानात्मा, जिसे साध्य

और उसकी प्राप्ति के साधनों का ज्ञान नहीं है, क्या कर सकता है, वह अपने कल्याण और अकल्याण को भी कैसे समझ सकता है?

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणई सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ॥२॥

भावार्थ—यह आत्मा सुन कर कल्याण का मार्ग जानता है और सुनकर ही पाप का मार्ग जानता है। दोनों मार्ग सुन कर ही जाने जाते हैं। साधक का कर्त्तव्य है कि दोनों मार्गों का श्रवण करे और जो श्रेयस्कर प्रतीत हो उसका आचरण करे।

जो जीवे वि न याणेइ, अजीवे वि न याणइ ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ॥३॥
जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥४॥

भावार्थ—जो न जीव का स्वरूप जानता है और न अजीव का स्वरूप जानता है। दोनों—जीव अजीव—के स्वरूप को न जानने वाला साधक संयम को कैसे जान सकेगा?

जो जीव का स्वरूप जानता है, अजीव का स्वरूप जानता है। जीव और अजीव दोनों का स्वरूप जानने वाला संयम का स्वरूप भी जान सकेगा। (दशवैकालिक चौथा अ० गाथा १० से १३)

सुई जहा ससुत्ता न नस्सइ, कयवरम्मि पडिया वि।
जीवोऽवि तह ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे॥५॥

भावार्थ—जैसे धागा पिरोई हुई सुई कचरे में पड़ जाने पर भी गुम नहीं होती इसी प्रकार श्रुतज्ञान वाला आत्मा संसार में रहकर भी आत्मस्वरूप को नहीं गंवाता। (भक्त परिज्ञा प्रकीर्णक गाथा ८६)

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुआहिं वासकोडीहिं ।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥५॥

भावार्थ–अज्ञानात्मा अनेक कोटि वर्षों में जिन कर्मों का क्षय करता है । मन वचन काया का गोपन करने वाला ज्ञानी उन्हीं कर्मों को केवल एक श्वासोच्छ्वास प्रमाण काल में क्षय कर देता है ।

(महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक गाथा १०१)

जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए ॥७॥

भावार्थ–जितने भी अज्ञानी पुरुष हैं वे सभी दुःखभागी हैं। भले बुरे के विवेक से शून्य वे अज्ञानी पुरुष इस अनन्त संसार में अनेक वार दरिद्रतादि दुःखों से पीड़ित होते हैं ।

(उत्तराध्ययन अध्ययन ६ गाथा १)

७—क्रिया रहित ज्ञान

एवं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं ।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ॥१॥

भावार्थ–ज्ञानी के ज्ञान सीखने का यही सार है कि वह किसी प्राणी की हिंसा न करे । 'अहिंसा का सिद्धान्त ही सर्वोपरि है' इतना ही विज्ञान है ।

(सूयगडांग पहला अध्ययन चौथा उद्देशा गाथा १०)

सुबहुं पि सुयमहीयं, किं काही चरणविप्पहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्स कोडी वि ॥२॥

भावार्थ–चारित्र रहित पुरुष को बहुत से शास्त्रों का अध्ययन भी क्या लाभ दे सकता है ? क्या लाखों दीपकों का जलाना भी कहीं अन्धे को देखने में सहायक हो सकता है ?

जहा खरो चंदण भारवाही, भारस्स भागी ण हु चंदणस्स।
एवं खु णाणी चरणेण हीणो, भारस्स भागी ण हु सुग्गईए॥

भावार्थ—जैसे चन्दन का भार ढोने वाला गधा केवल भार ही का भागी है। चन्दन की शीतलता उसे नहीं मिलती। इसी प्रकार चारित्र रहित ज्ञानी का ज्ञान केवल भार रूप है। वह सुगति का अधिकारी नहीं होता।

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ॥४॥

भावार्थ—क्रिया शून्य ज्ञान निष्फल है। अज्ञानपूर्वक की गई क्रिया भी फलवती नहीं होती। आग लग जाने पर पङ्गु पुरुष का देखना उसे आग से नहीं बचा सकता और न अंधे पुरुष का दौड़ना ही उसे निरापद स्थान पर पहुँचा सकता है। किन्तु निरपेक्ष ज्ञान क्रिया वाले दोनों ही आग में जल जाते हैं।

(विशेषावश्यक भाष्य गाथा ११५२, ११५८, ११५९)

८—व्यवहार निश्चय

जइ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जई, तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥१॥

भावार्थ—यदि तुम जिनमत स्वीकार करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों में से एक का भी त्याग न करो। व्यवहार के बिना तीर्थ एवं आचार का उच्छेद हो जाता है और निश्चय बिना तत्त्व ही का नाश हो जाता है। (समयसार वृत्ति, आगमसार)

जइ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
ववहार उच्छेए, तित्थुच्छेओ हवइऽवस्सं ॥२॥

भावार्थ—यदि जिनमत को मानते हो तो व्यवहार और निश्चय

दोनों में से एक को भी न छोड़ो । व्यवहार का उच्छेद होने से अवश्य ही तीर्थ का नाश होता है । (पंच वस्तुक)

६—मोक्षमार्ग

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सुग्गइं ॥१॥

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र और तप ये चारों मोक्षमार्ग यानी मोक्ष के उपाय हैं । मोक्ष के इस मार्ग की आराधना कर जीव सुगति प्राप्त करते हैं ।

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइं, तवेण परिसुज्झइ ॥२॥

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्मा जीवादि पदार्थों को जानता है और सम्यग्दर्शन द्वारा उन पर श्रद्धा करता है । चारित्र द्वारा आत्मा नवीन कर्म आने से रोकता है एवं तप द्वारा पुराने कर्मों को नाश कर शुद्ध होता है । (उत्तराध्ययन अ० २८ गाथा ३, ३५)

जया जीवमजीवे य, दोवि एए वियाणइ ।
तया गई बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥ ॥

भावार्थ—जब आत्मा जीव और अजीव दोनों को भली भांति जान लेता है तब वह सब जीवों की नानाविध नरक तिर्यञ्च आदि गतियों को जान लेता है ।

जया गई बहुविहं, सव्व जीवाण जाणइ ।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ ॥४॥

भावार्थ—जब वह सब जीवों की नानाविध गतियों को जान लेता है तब पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है ।

जया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ।
तया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुस्से ॥५॥

भावार्थ—जब वह पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को जान लेता है तब देवता और मनुष्य सम्बन्धी समस्त कामभोगों को असार जान कर उनसे विरक्त हो जाता है।

जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुस्से।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतर बाहिरं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जब देवता और मनुष्य सम्बन्धी समस्त कामभोगों से विरक्त हो जाता है तब माता पिता तथा संपत्ति रूप बाह्य संयोग एवं रागद्वेष कषाय रूप आभ्यन्तर संयोग को छोड़ देता है।

जया चयइ संजोगं, सब्भिंतर बाहिरं।
तया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वयइ अणगारियं ॥७॥

भावार्थ—जब उक्त बाह्य एवं आभ्यन्तर संयोग को छोड़ देता है तब मुण्डित होकर अनगारवृत्ति (मुनिचर्या) को प्राप्त करता है।

जया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वयइ अणगारियं।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जब मुण्डित होकर अनगार वृत्ति को प्राप्त करता है तब सर्व प्राणातिपातादि विरति रूप उत्कृष्ट संवर-चारित्र धर्म का यथावत् पालन करता है।

जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहि कलुसं कडं ॥९॥

भावार्थ—जब सर्व प्राणातिपातादि विरति रूप उत्कृष्ट संवर चारित्र धर्म को प्राप्त करता है तब मिथ्यात्व रूप कलुष परिणाम से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म रज को झाड़ देता है।

जया धुणइ कम्मरयं, अबोहि कलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥१०॥

भावार्थ—जब आत्मा मिथ्यात्व रूप कलुष परिणाम से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म रज को झाड़ देता है तब वह अशेष वस्तुओं को विषय करने वाले केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त करता है ।

जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥११॥

भावार्थ—जब अशेष वस्तुओं को विषय करने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो जाती है तब आत्मा जिन तथा केवली होकर लोक और अलोक को जान लेता है ।

जाय लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥११॥

भावार्थ—जब केवलज्ञानी जिन लोक और अलोक को जान लेता है तब स्थिति पूरी होने पर मन वचन काया रूप योगों का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है ।

जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥१३॥

भावार्थ—जब मन वचन काया रूप योगों का निरोध कर आत्मा शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है तब वह अशेष कर्मों का क्षय कर सर्वथा कर्मरहित होकर सिद्धि गति को प्राप्त करता है ।

जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥१४॥

भावार्थ—जब आत्मा सभी कर्मों का क्षय कर, कर्मरहित होकर सिद्धि गति को प्राप्त कर लेता है तब वह लोक के मस्तक

पर सिद्धिगति में रहने वाला शाश्वत सिद्ध हो जाता है।

(दशवैकालिक चौथा अध्ययन गाथा १४ से २५)

सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणासवे तवे चेव, वोदाणे अकिरिय सिद्धि ॥१५॥

भावार्थ-साधु महात्माओं की उपासना (सेवा भक्ति) का फल सत् शास्त्रों का श्रवण है। श्रवण का फल ज्ञान है और ज्ञान से विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है। विशिष्ट ज्ञान होने से आत्मा प्रत्याख्यान करता है और प्रत्याख्यान करने से संयम का पालन होता है। संयम का पालन करने से नवीन कर्मों का प्रवाह आना रुक जाता है। नवीन कर्म रहित व्यक्ति लघुकर्मा होने से तप का आचरण करता है और तप द्वारा पुरातन कर्म क्षय कर देता है। कर्मों के क्षय हो जाने से वह योगों का निरोध कर क्रिया रहित होता है एवं अन्तिम सिद्धि गति रूप फल प्राप्त करता है।

(भगवती दूसरा शतक पांचवा उद्देशा)

१०—अहिंसा-दया

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१॥

भावार्थ--सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। इसीलिये निर्ग्रन्थ जैन मुनि महाभयावह प्राणिवध का सर्वथा त्याग करते हैं। (दशवैकालिक छठा अ० गाथा १०)

सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा. पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं ॥२॥

भावार्थ--सभी जीवों को अपनी आयु प्रिय है, वे सुख चाहते

हैं और दुःख से द्वेष करते हैं। उन्हें वध अप्रिय लगता है और जीवन प्रिय लगता है अतएव वे दीर्घ आयु चाहते हैं। सभी को अपना जीवन प्रिय है। (आचारांग अ० २ उ० ३ सूत्र ८१)

सव्वे अक्कन्तदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया ॥३॥

भावार्थ--सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय लगता है अतएव किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिये।

(सूयगडांग अध्ययन १ उद्देशा ४ गाथा ६)

से बेमि जे अईया जे पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खन्ति एवं भासेंति एवं पएणविंति एवं परूवेंति--सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघेत्तव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा।

एस धम्मे धुवे णिच्चे सासए समिच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेइए ॥ ४ ॥

भावार्थ--मैं (महावीर) कहता हूँ कि भूतकाल में जो तीर्थङ्कर हुए हैं वर्तमान काल में जो तीर्थङ्कर हैं एवं भविष्य में जो तीर्थङ्कर होंगे उन सभी ने यह कहा है, कहते हैं और कहेंगे कि सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व का हनन न करना चाहिये, उन पर अनुशासन न करना चाहिये, उन्हें ग्रहण(अधीन) न करना चाहिये, परिताप न देना चाहिये तथा प्राणों से वियुक्त न करना चाहिये।

यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। लोक के स्वरूप को जान कर तीर्थङ्कर भगवान् ने इस धर्म का उपदेश दिया है।

(आचाराग सूत्र अध्ययन ४ उद्देशा १ सत्र १२७)

इमं च णं सव्वजीवरक्खणदयट्ठाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं नेया-

उअं अकुडिलं अणुत्तरं सव्व दुक्खपावाण विउसमणं ।५।

भावार्थ—विश्व के सभी जीवों की रक्षा रूप दया के लिये भगवान् महावीर ने यह प्रवचन कहा है। यह आत्मा के लिये हितकारी एवं परलोक में शुभ फल देने वाला है। इसकी आराधना से भविष्य में कल्याण की प्राप्ति होती है। यह प्रवचन निर्दोष, न्यायसंगत, सरल एवं प्रधान है तथा सभी दुःख एवं पापों का शमन करने वाला है। (प्रश्नव्याकरण पहला संवर द्वार सूत्र २२)

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसिअं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥६॥

भावार्थ—भगवान् महावीर ने अठारह धर्म स्थानों में सब से पहला स्थान अहिंसा का बतलाया है। यह अहिंसा अत्यन्त सूक्ष्म है एवं इसी में भगवान् ने धर्म साधना का साक्षात्कार किया है। सर्व प्राणी विषयक संयम ही अहिंसा का स्वरूप है।

(दशवैकालिक छठा अध्ययन गाथा ८)

जइ ते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्व जीवाणं।
सव्वायर मुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं ॥७॥

भावार्थ—जिस प्रकार तुम्हें दुःख अप्रिय लगता है उसी प्रकार संसार के सभी जीवों को भी दुःख अप्रिय लगता है। ऐसा जान कर आत्मा की उपमा से सभी प्राणियों पर आदर एवं उपयोग के साथ दया करो। (भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक गाथा ६०)

तुमं सि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेअव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि, तुमं सि नाम सच्चेव जं परिघेत्तव्वं ति मन्नसि एवं तुमं सि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि ॥८॥

भावार्थ—जब तुम किसी को हनन, आज्ञापन, परिताप, परिग्रह एवं विनाश योग्य समझते हो तो यह विचार करो कि वह तुम ही हो। उसकी आत्मा और तुम्हारी आत्मा एकसी है। जैसे तुम्हें हननादि अप्रिय हैं और तुम उनसे बचना चाहते हो उसी प्रकार उसकी आत्मा को भी समझो।

(आचारांग पाचवा लोकसाराध्ययन उ० ५ सूत्र १६५)

एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए ।९॥

भावार्थ—यह जीवहिंसा ही ग्रन्थ (आठ कर्मों का बन्ध) है, यही मोह है, यही मृत्यु है और यही नरक है।

(आचारांग पहला अध्ययन दूसरा उद्देशा सूत्र १७)

सयं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए
हणन्तं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥ १० ॥

भावार्थ—जो पुरुष स्वयं प्राणियों की हिंसा करता है, दूसरे से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है वह अपने लिये वैर बढ़ाता है। (सूयगडांग अ० १ उ० १ गाथा ३)

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मन्ति सुबहू जीवा।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सइ ॥ ११ ॥

भावार्थ—यदि मेरे निमित्त ये जीव मारे जाते हों तो यह बात परलोक में मेरे लिये कल्याणकारी न होगी।

(उत्तराध्ययन बाईसवा अध्ययन गाथा १९)

अभओ पत्थिवा! तुज्झं अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥१२॥

भावार्थ—हे राजन्! तुम्हें अभय है और तुम भी अभयदान देने वाले होओ। इस अशाश्वत जीव लोक में तुम हिंसा में क्यों आसक्त हो रहे हो? (उत्तराध्ययन अठारवा अ० गाथा ११)

समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे ।
पाणाइवाय विरई, जावज्जीवाय दुक्करं ॥१३॥

भावार्थ–जीवन पर्यन्त संसार के सभी प्राणियों पर–फिर भले ही वह शत्रु हो या मित्र–समभाव रखना तथा सभी प्रकार की हिंसा का त्याग करना बड़ा ही दुष्कर है ।

(उत्तराध्ययन उन्नीसवा अध्ययन गाथा २५)

जीव वहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ ।
ता सव्व जीव हिंसा, परिचत्ता अत्तकामेहिं ॥१४॥

भावार्थ–जीव की हिंसा करना आत्मा की हिसा करना है और जीवों पर दया करना आत्मा पर दया करना है । इसीलिये आत्मार्थी महापुरुषों ने सर्वथा हिंसा का त्याग किया है ।

जावइआइं दुक्खाइं, हुंति चउगइगयस्स जीवस्स ।
सव्वाइं ताइं हिंसा, फलाइं निउणं वियाणाहि ।१५।

भावार्थ–यह सुनिश्चित समझो कि चार गति में रहे हुए जीवों को जितने भी दुःख भोगने पड़ते हैं वे सभी हिंसा के फल हैं ।

जं किंचि सुहमुआरं, पहुत्तणं पयइसुंदरं जं च ।
आरुग्गं सोहग्गं, तं तमहिंसाफलं सव्वं ॥१६॥

भावार्थ–संसार में जो कुछ भी उदार सुख, प्रभुत्व, प्रकृति से सुन्दरता, आरोग्य एवं सौभाग्य दिखाई देते हैं । ये सभी अहिंसा के फल हैं ।

(भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक गाथा० ९३,९४,९५)

तुंगं न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि
जह तह जयम्मि जाणसु, धम्ममहिंसा समं नत्थि।१७।

भावार्थ–जैसे जगत में सुमेरु पर्वत से ऊँचा एवं आकाश से विशाल कोई नहीं है इसी प्रकार यह निश्चयपूर्वक समझो कि

अखिल विश्व में अहिंसा जैसा दूसरा धर्म नहीं है।

(भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक गाथा ९१)

११—सत्य

सच्चं जसस्स मूलं, सच्चं विस्सासकारणं परमं।
सच्चं सग्गद्दारं, सच्चं सिद्धीइ सोपाणं ॥१॥

भावार्थ—सत्य यश का मूल कारण है। सत्य ही विश्वास-प्राप्ति का मुख्य साधन है। सत्य स्वर्ग का द्वार है एवं सिद्धि का सोपान है। (धर्मसंग्रह दूसरा अधिकार श्लोक २६ टीका)

तं लोगम्मि सारभूयं, गंभीरतरं महासमुद्दाओ, थिरतरगं मेरुपव्वयाओ, सोमतरगं चंदमंडलाओ, दित्ततरं सूरमंडलाओ, विमलतरं सरयनहयलाओ, सुरभितरं गंधमादणाओ ॥२॥

भावार्थ—सत्य लोक में सारभूत है। यह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है। सुमेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है। चंद्रमंडल से अधिक सौम्य एवं सूर्यमंडल से अधिक दीप्त है। शरत्-कालीन आकाश से यह अधिक निर्मल है एवं गन्धमादन पर्वत से भी अधिक सुगन्ध वाला है। (प्रश्नव्याकरण दूसरा संवर द्वार सूत्र २४)

जे वि य लोगम्मि अपरिसेसा मंतजोगा जवा य विज्जा य जंभका य अत्थाणि य सिक्खाओ य आगमा य सव्वाणि वि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं ॥३॥

भावार्थ—लोक में जो भी सभी मंत्र, योग, जप, विद्या, जृम्भक अस्त्र, शस्त्र, शिक्षा और आगम हैं वे सभी सत्य पर स्थित हैं।

(प्रश्नव्याकरण दूसरा संवर द्वार सूत्र २४)

सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरइ ॥ ४ ॥

भावार्थ–हे पुरुषो ! सत्य ही का सेवन करो । सत्य की आराधना करने वाला मेधावी (बुद्धिमान्) मृत्यु को तिर जाता है ।
(आचारांग तीसरा अध्ययन तीसरा उ० सूत्र ११६)

सया सच्चेण संपन्ने, मित्तिं भूएहिं कप्पए ॥ ५ ॥

भावार्थ–सदा सत्य से सम्पन्न होकर जगत के सभी प्राणियों के साथ मैत्रीभाव रखो । (सूयगडांग पन्द्रहवा अ० गाथा ३)

विस्ससणिज्जो माया व होइ, पुज्जो गुरुव्व लोअस्स ।
सयणुव्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस्स होइ पियो ॥६॥

भावार्थ–सत्यवादी पुरुष माता की तरह लोगों का विश्वासपात्र होता है एवं गुरु की तरह पूज्य होता है । स्वजन की तरह वह सभी को प्रिय लगता है । (भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक गाथा ६६)

सच्चम्मि धिइं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ ॥७॥

भावार्थ–सत्य में दृढ़ रहो । सत्य में व्यवस्थित बुद्धिमान् व्यक्ति सभी पाप कर्म का क्षय कर देता है ।
(आचारांग तीसरा अध्ययन दूसरा उद्देशा सूत्र ११३)

सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ॥८॥

भावार्थ–सत्य वचनों में निरवद्य (पाप रहित) वचन प्रधान कहा जाता है । (सूयगडांग छठा अ० गाथा २३)

सच्चेण महासमुद्दमज्झेवि चिट्ठंति न निमज्जंति मूढाणिया वि पोया, सच्चेण य उदगसंभमम्मि वि न वुज्झइ न य मरंति थाहं ते लभन्ति, सच्चेण य अगणिसंभमम्मि

वि न डज्झंति, उज्जुगा मणूसा सच्चेण य तत्त तेल्लतउलोहसीसकाइं छिवंति धरेंति न य डज्झंति मणूसा, पव्वयकडकाहिं मुचंते न य मरंति सच्चेण य परिग्गहिया असिपंजरगया समराओ वि णिइंति अणहा य, सच्चवादी वह बंधभियोगवेरघोरेहिं पमुच्चंति य अभित्तमज्झाहिं निइंति अणहा य सच्चवादी, सदेव्वगाणि य देवयाओ करेंति सच्चवयणे रत्ताणं ॥९॥

भावार्थ–महासमुद्र के मध्य दिशा भूले हुए जहाज सत्य के प्रभाव से स्थिर रहते हैं किन्तु डूबते नहीं हैं। सत्य के प्रभाव से जल का उपद्रव होने पर मनुष्य न बहते हैं, न मरते ही हैं किन्तु पानी का थाह पा लेते हैं। सत्य ही का यह प्रभाव है कि मनुष्य अग्नि में जलते नहीं हैं। सरल सत्यवादी मनुष्य तपा हुआ तैल कथीर, लोहा और सीसा छू लेते हैं, हथेली पर रख लेते हैं किन्तु जलते नहीं हैं। सत्य को अपनाने वाले पहाड़ से गिराये जाने पर भी मरते नहीं हैं। सत्यधारी महापुरुष युद्ध में खड्ग हाथ में लिये हुए विरोधियों के बीच घिर कर भी अक्षत निकल आते हैं। घोर वध, बन्ध, अभियोग और शत्रुता से भी वे सत्य के प्रभाव से मुक्ति पा लेते हैं और शत्रुओं के चंगुल से बच कर निकल आते हैं। सत्य से आकृष्ट होकर देवता भी सत्यवादियों के समीप बने रहते हैं। (प्रश्नव्याकरण दूसरा संवर द्वार सूत्र २४)

मूसावाओ उ लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥ १० ॥

भावार्थ–संसार में साधु पुरुषों ने मृषा–असत्य वचन की निन्दा की है। असत्यवादी का कोई विश्वास नहीं करता। इसलिये असत्य से परहेज करना चाहिये।

(दशवैकालिक छठा अध्ययन गाथा १२)

वितहं पि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेण, किं पुण जो मुसं वए ॥११॥

भावार्थ–जो मनुष्य भूल से भी, ऊपर से सत्य मालूम होने वाली किन्तु मूलतः असत्य भाषा बोलता है उससे भी वह पाप का भागी होता है, तब भला जान बूझ कर जो असत्य बोलता है उसके पाप का तो कहना ही क्या ? (दशवैकालिक सातवां अ० गाथा ५)

इहलोए च्चिअ जीवा, जीहाछेअं वहं च बंधं वा।
अयसं धणनासं वा, पावंति अलिअवयणाओ ॥१२॥

भावार्थ–असत्य भाषण के फल स्वरूप प्राणी यहीं पर जिह्वा-छेद, वध और बन्ध रूप दुःख भोगते हैं। उनका लोक में अपयश होता है एवं धन का नाश होता है।

(धर्मसंग्रह दूसरा अधिकार श्लोक २६ टीका)

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥१३॥

भावार्थ–अपने स्वार्थ के लिये अथवा दूसरों के लिये, क्रोध से अथवा भय से, दूसरों को दुःख पहुंचाने वाला असत्य वचन न स्वयं कहे न दूसरों से कहलावे। (दशवैकालिक छठा अ० गाथा ११)

तहेव सावज्जणुमोअणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह लोह भय हास माणवो,,
न हासमाणोऽवि गिरं वएज्जा ॥१४॥

भावार्थ-साधक को पाप का अनुमोदन करने वाली, निश्चय-कारिणी तथा दूसरों को दुःख पहुचाने वाली वाणी, न कहना

चाहिये। उसे क्रोध, लोभ, भय और हास्य के वश पापकारी शब्द न कहना चाहिये। हँसते हुए भी उसे न बोलना चाहिये।

(दशवैकालिक सातवा अध्ययन गाथा ५४)

१२–अदत्तादान (चोरी) विरति

रूवे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययइ अदत्तं। १।

भावार्थ–मनोज्ञ रूप आदि इन्द्रियविषयों से जो संतुष्ट नहीं है वह उनके परिग्रह में आसक्ति एवं लालसा वाला बना रहता है। अन्त में असंतोष से दुखी एवं लोभ से कलुषित वह आत्मा अपनी इष्ट वस्तु पाने के लिये चोरी करता है।

(उत्तराध्ययन बत्तीसवा अध्ययन गाथा २९)

सामी जीवादत्त, तित्थयरेणं तहेव य गुरूहिं।
एअमदत्तसरूवं, परूविअं आगमधरेहिं ॥ २ ॥

भावार्थ–स्वामी से बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करना अदत्तादान है। प्राणधारी आत्मा का प्राणहरण भी उसकी आज्ञा न होने से अदत्तादान है। तीर्थङ्कर द्वारा निषिद्ध आचरण का सेवन करना अदत्तादान है एवं गुरु की आज्ञा बिना कोई वस्तु ग्रहण करना भी अदत्तादान है। इस प्रकार आगमधारी महात्माओं ने अदत्तादान का स्वरूप बतलाया है।

(प्रश्नव्याकरण तीसरा संवरद्वार सूत्र २६ टीका, धर्मसंग्रह २ अ० श्लोक २७ टीका)

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहंसि अजाइया ॥ ३ ॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नोऽवि गिण्हावए परं।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥४॥

भावार्थ–संयमी साधु सचेतन पदार्थ हो या अचेतन पदार्थ हो, अल्पमूल्य पदार्थ हो या बहुमूल्य पदार्थ हो, यहाँ तक कि दांत कुरेदने का तिनका भी स्वामी से याचना किये बिना न स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरों को ग्रहण करने के लिये प्रेरित करते हैं और न ग्रहण करने वालों का अनुमोदन ही करते हैं।

(दशवैकालिक छठा अध्ययन गाथा १३-१४)

तवतेणे वयतेणे रूवतेणे य जे नरे ।
आयारभाव तेणे य, कुव्वइ देवकिव्बिसं ॥ ९ ॥

भावार्थ–जो साधु तप का चोर है, वचन (वाक्शक्ति) का चोर है, रूप का चोर है, आचार का चोर है एवं भाव का चोर है, वह नीच योनि के किल्विषी देवों में उत्पन्न होता है।

(दशवैकालिक पांचवा अध्ययन दूसरा उद्देशा गाथा ४६)

१३–ब्रह्मचर्य-शील

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं ॥ १ ॥

भावार्थ--ब्रह्मचर्य सभी तपों में प्रधान है।

(सूयगडांग सूत्र छठा अध्ययन गाथा २३)

इत्थिओ जे ण सेवंति, आइमोक्खा हु ते जणा ॥२॥

भावार्थ--जो पुरुष स्त्रियों का सेवन नहीं करते उनका सर्व प्रथम मोक्ष होता है। (सूयगडाग सूत्र पन्द्रहवां अ० गाथा १०)

जम्मि य आराहियम्मि आराहियं वयमिणं सव्वं, सीलं तवो य विणओ य संजमो य संती मुत्ती गुत्ती तहेव य इहलोइयपारलोइय जसे य कित्ती य पच्चओ य॥३॥

भावार्थ–ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करने से सभी व्रतों की

आराधना हो जाती है। शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, निर्लोभता और गुप्ति ये सभी ब्रह्मचर्य की आराधना से आराधित होते हैं। ब्रह्मचारी इसलोक और परलोक में यश, कीर्ति एवं लोकविश्वास प्राप्त करता है।

जेण सुद्धचरिएण भवइ सुबंभणो सुसमणो सुसाहू स इसी स मुणी स संजए स एव भिक्खू जो सुद्धं चरइ बंभचेरं ॥४॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य के शुद्ध आचरण से उत्तम ब्राह्मण, उत्तम श्रमण और उत्तम साधु होता है। ब्रह्मचर्य पालने वाला ही ऋषि है। वही मुनि है, वही साधु है और वही भिक्षु है।

(प्रश्नव्याकरण चौथा संवर द्वार सूत्र २७)

न रूव लावण्ण विलासहासं, न जंपियं इंगियपेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुंववस्से समणेव तवस्सी

भावार्थ—श्रमण तपस्वी स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, कामचेष्टा एवं कटाक्ष आदि को मन में तनिक भी स्थान न दे एवं रागपूर्वक देखने का कभी प्रयत्न न करे।

अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं, हियं सया बंभवए रयाणं॥६॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी को स्त्रियों को रागपूर्वक न देखना चाहिये और न उनकी अभिलाषा करनी चाहिये। स्त्रियों का चिन्तन एवं कीर्तन भी उसे न करना चाहिए। सदा ब्रह्मचर्य व्रत में रहने वाले पुरुषों के लिये यह नियम उत्तम ध्यान प्राप्त करने में सहायक है एवं उनके लिये अत्यन्त हितकर है।

कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं, न चाइया खोभइउं तिगुत्ता।

तहावि एगंतहियं ति नच्चा, विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ७

भावार्थ–मन वचन काया का गोपन करने वाले मुनियों को चाहे वस्त्राभूषणों से अलंकृत अप्सराएं भी संयम से विचलित न कर सकें फिर भी उन्हें एकान्तवास का ही आश्रय लेना चाहिये। यही उनके लिये अत्यन्त हितकारी एवं प्रशस्त कहा गया है।

(उत्तराध्ययन बत्तीसवां अध्ययन गाथा १४, १५, १६)

हत्थपाय पलिच्छिन्नं, कन्ननासविगप्पिअं ।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥ ८ ॥

भावार्थ–टूटे हुए हाथ पैर वाली और कटे हुए कान नाक वाली सौ वर्ष की बुढ़िया का सग भी ब्रह्मचारी के लिये वर्जनीय है।

(दशवैकालिक आठवां अध्ययन गाथा ५६)

जइ वि सयं थिरचित्तो, तहावि न संसग्गिलद्धपसराए ।
अग्गिसमीवेव घयं, विलिज्ज चित्तं खु अज्जाए ॥९॥

भावार्थ–साधु स्वयं स्थिर चित्त हो फिर भी आर्या का संपर्क ठीक नहीं है। जैसे आग के पास रहा हुआ घी पिघल जाता है उसी प्रकार साधु संसर्ग से आर्या का चित्त विकृत होकर विचलित हो सकता है। (गच्छाचार प्रकीर्णक गाथा ६६)

जत्थ य अज्जाहि समं, थेरावि न उल्लविंति गयदसणा ।
न य झायंति थीणं, अंगोवंगाइं तं गच्छं ॥१०॥

भावार्थ--जहाँ स्थविर साधु भी जिनके कि दाँत गिर गये हैं, आर्याओं के साथ आलाप संलाप नहीं करते एवं स्त्रियों के अङ्ग उपाङ्ग का ध्यान नहीं करते, वही गच्छ है।

(गच्छाचार प्रकीर्णक गाथा ६२)

जत्थ य अज्जासद्धं, पडिग्गहमाई विविहमुवगरणं।

परिभुंजइ साहूहिं, तं गोअम ! केरिसं गच्छं ॥११॥

भावार्थ--हे गौतम ! जहाँ साधु आर्याओं से लाये हुए पात्र आदि विविध उपकरणों का परिभोग करते हैं वह कैसा गच्छ है ?

(गच्छाचार प्रकीर्णक गाथा ६१)

जत्थ समुद्देस काले, साहूणं मंडलीइ अज्जाओ।
गोयम ! ठवंति पाए, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥१२॥

भावार्थ--हे गौतम! जहाँ भोजन के समय साधुओं की मंडली में आर्याएं पैर रखती हैं वह गच्छ नहीं किन्तु स्त्रीराज्य है।

(गच्छाचार प्रकीर्णक गाथा ६६)

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीअ रसभोयणं।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ १३ ॥

भावार्थ--आत्मशोधक पुरुष के लिये शरीर का शृङ्गार, स्त्रियों का संसर्ग और पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन, तालपुट विष के समान घातक हैं। (दशवैकालिक आठवा अ० गाथा ५७)

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१४॥

भावार्थ--अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है और महादोषों का पुंजरूप है। इसीलिये निर्ग्रन्थ मुनि स्त्रीसंसर्ग का त्याग करते हैं।

(दशवैकालिक छठा अध्ययन गाथा १६)

देवदाणव गंधव्वा, जक्ख रक्खस किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ॥१५॥

भावार्थ--दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी पुरुष को देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं।

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेणं, सिज्झिस्सन्ति तहावरे।१६।

भावार्थ -यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इसका आचरण कर पूर्वकाल में कितने ही जीव सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे।

(उत्तराध्यन सोलहवा अध्ययन गाथा १६, १७)

१४—अपरिग्रह—परिग्रह का त्याग

न ते संनिहिमिच्छन्ति, नायपुत्तवओरया ॥ १ ॥

भावार्थ—ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के प्रवचन में रत रहने वाले साधु किसी भी वस्तु का संग्रह करने की इच्छा तक नहीं करते।

लोहस्सेस अणुप्फासे, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिआ सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से ॥२॥

भावार्थ--मेरे मतानुसार थोड़ासा भी संग्रह करना, यह लोभ का परिणाम है। यदि साधु कभी भी संग्रह की इच्छा करता है तो वह गृहस्थ ही है पर साधु नहीं।

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
तंपि संजम लज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥३॥

भावार्थ--परिग्रह रहित मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुएं रखते हैं वे एकमात्र संयम की रक्षा के लिये हैं एवं अनासक्ति भाव से वे उनका उपभोग करते हैं।

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥४॥

भावार्थ--प्राणी मात्र के रक्षक ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने अनासक्ति भाव से वस्त्रादि रखने में परिग्रह नहीं बतलाया है। महावीर के अनुसार किसी वस्तु पर मूर्च्छा-ममत्व यानी आसक्ति का होना ही वास्तव में परिग्रह है।

सव्ववत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण परिग्गहे ।
अवि अप्पणोऽवि देहम्मि, नायरन्ति ममाइयं ॥५॥

भावार्थ--ज्ञानी पुरुष संयम के सहायभूत वस्त्र पात्रादि उपकरणों को केवल संयम की रक्षा के ख्याल से ही रखते हैं पर मूर्च्छाभाव से नहीं। वस्त्र पात्रादि पर ही क्या, वे तो अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते। (दशवैकालिक छठा अध्ययन गाथा १७ से २१)

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्न वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चइ ॥६॥

भावार्थ--जो व्यक्ति सचित्त या अचित्त थोड़ी या अधिक वस्तु परिग्रह की बुद्धि से रखता है अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा देता है वह दुःख से छुटकारा नहीं पाता।

(सूयगडाग पहला अध्ययन पहला उद्देशा गाथा २)

परिग्गहे चेव होंति नियमा सल्ला दंडा य गारवा य।
कसाया सन्ना य कामगुण अण्हगा य इंदिय लेसाओ ॥७॥

भावार्थ--मायादि शल्य, दण्ड, गारव, कषाय, संज्ञा, शब्दादि गुण रूप आश्रव, असंवृत इन्द्रियां और अप्रशस्त लेश्याएं--ये सभी परिग्रह होने पर अवश्य ही होते हैं।

नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि सव्वजीवाणं सव्वलोए ॥८॥

भावार्थ–सारे लोक में सभी जीवों के परिग्रह जैसा कोई पाश (बन्ध) एवं प्रतिबन्ध नहीं है। (प्रश्नव्याकरण पाचवा अधर्म द्वार सूत्र १६

ण पडिन्नविज्जा सयणासणाइं, सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं
गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभावं न कहिं पि कुज्जा ॥९॥

भावार्थ–साधु को चाहिये कि मासकल्पादि पूरा होने पर विहार करते समय शयन, आसन, निषद्या (स्वाध्यायभूमि) एवं भक्त पान के सम्बन्ध में गृहस्थ को यह प्रतिज्ञा न करावे कि वापिस आने पर उक्त वस्तुएं मुझे ही देना। ग्राम, कुल, नगर एवं देश में कहीं भी साधु को उपकरणादि पर ममत्व भाव न रखना चाहिये। (दशवैकालिक दूसरी चूलिका गाथा ८)

जे ममाइयमतिं जहाति, से जहाइ ममाइतं ।
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स णत्थि ममाइतं ॥१०॥

भावार्थ–जो ममत्व बुद्धि का त्याग करता है वह स्वीकृत परिग्रह का त्याग करता है। जिसके ममत्व एवं परिग्रह नहीं है उसी मुनि ने ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग को जाना है।
(आचारांग दूसरा अध्ययन छठा उद्देशा सूत्र ९९)

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे,
अन्नायउंछं पुलनिप्पुलाए ।
कयविक्कयसंनिहीओ विरए,
सव्वसंगावगए अ जे स भिक्खू ॥११॥

भावार्थ–जो साधु वस्त्र पात्रादि संयम के उपकरणों में मूर्च्छा एवं गृद्धिभाव का त्याग करता है, अज्ञात कुलों से थोड़ी थोड़ी शुद्ध भिक्षा लेता है, संयम को असार बनाने वाले दोषों से तथा क्रय, विक्रय और संचय से दूर रहता है एवं सभी द्रव्य भाव

संगों से निर्लिप्त रहता है वही सच्चा भिक्षु है।

(दशवैकालिक दसवां अध्ययन गाथा १६)

१५—रात्रि भोजन त्याग

अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥१॥

भावार्थ—सूर्य के उदय होने से पहले और सूर्य के अस्त हो जाने के बाद मुनि को सभी प्रकार के भोजन पान आदि की मन से भी इच्छा न करनी चाहिये। (दशवैकालिक आठवां अ० गाथा २८)

जइ ता दिया न कप्पइ, तमं ति काऊण कोट्ठगादीसुं ।
किं पुण तमस्सिनीए, कप्पिस्सइ सव्वरीए उ ॥ २ ॥

भावार्थ—अन्धकार वाले कोठे आदि में, अन्धकार के कारण, जब दिन में भी आहार पानी लेना मुनि को नहीं कल्पता फिर अन्धकार वाली रात्रि में आहारादि लेना उसके लिये कैसे ठीक हो सकता है?

(बृहत्कल्प भाष्य पहला उ० गाथा ७०१)

संति मे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणिअं चरे ॥ ३ ॥

भावार्थ—संसार में बहुत से त्रस स्थावर प्राणी इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे रात्रि में दिखाई नहीं देते। फिर उनकी रक्षा करते हुए रात्रि में आहार की शुद्ध एषणा एवं भोजन कैसे हो सकते हैं?

उदउल्लं बीयसंसत्तं, पाणा निवडिया महिं ।
दिआ ताइं विवज्जिज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ॥४॥

भावार्थ—जमीन पर कहीं पानी पड़ा होता है, कहीं बीज बिखरे

होते हैं और कहीं कीड़े मकोड़े आदि प्राणी होते हैं। दिन में उन्हें देख कर बचाया जा सकता है पर रात्रि में उनकी रक्षा करते हुए संयमपूर्वक कैसे चला जा सकता है ?

एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं ॥ ५ ॥

भावार्थ—ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर द्वारा कहे हुए प्राणि-हिंसा, आत्मविराधना आदि रात्रिभोजन के दोषों को जानकर निर्ग्रन्थ मुनि रात्रि में किसी प्रकार का आहार नहीं करते।

(दशवैकालिक छठा अध्ययन गाथा २३, २४, २५)

१६—भ्रमरवृत्ति

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥ १ ॥

भावार्थ—भ्रमर वृक्ष के पुष्पों से इस प्रकार रसपान करता है कि फूलों को जरा भी पीड़ा नहीं होती और वह तृप्त भी हो जाता है।

एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ॥ २ ॥

भावार्थ- लोक में बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त जो तपस्वी साधु हैं वे भी दाता द्वारा दिये हुए निर्दोष आहार की एषणा में ठीक उसी तरह रत रहते हैं जिस प्रकार भ्रमर पुष्पों में रत रहते हैं।

वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा ॥ ३ ॥

भावार्थ—साधु इस प्रकार वृत्ति प्राप्त करते हैं कि किसी भी

प्राणी की हिंसा न हो। फूलों से भँवरों की तरह वे गृहस्थों के यहां से, उनके निज के लिये बनाये हुए आहार में से थोड़ा थोड़ा आहार लेते हैं।

महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥४॥

भावार्थ—तत्त्वज्ञ मुनि भ्रमर जैसी वृत्ति वाले होते हैं। वे कुलादि के प्रतिबन्ध से रहित होते हैं, अनेक घरों से थोड़ा थोड़ा आहार लेकर अपना निर्वाह करते हैं एवं इन्द्रियों का दमन करते हैं इसी लिये वे साधु कहे जाते हैं। (दशवैकालिक पहला अ० गाथा २ से ५)

१७—मृगचर्या

तं बिंतऽम्मापिअरो, छंदेणं पुत्त! पव्वया!
नवरं पुण सामण्णे, दुक्खं निप्पडिकम्मया ॥ १ ॥

भावार्थ—अन्त में माता पिता ने मृगापुत्र से कहा—हे पुत्र! यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो खुशी के साथ तुम प्रव्रज्या धारण कर सकते हो। किन्तु तुम्हें मालूम होना चाहिये कि साधु अवस्था में रोग होने पर उसका उपचार (इलाज) नहीं किया जाता, यह नियम बड़ा ही कठोर है।

सो बिंतऽम्मापियरो, एवमेयं जहाफुडं।
परिकम्मं को कुणई, अरण्णे मियपक्खिणं ॥२॥

भावार्थ- उत्तर में मृगापुत्र ने कहा- हे माता पिता! आपका कहना यथार्थ है। पर यह भी विचारिये कि जंगल में मृग और पक्षियों का उपचार कौन करता है?

एगब्भूओ अरण्णे वा, जहा ऊ चरई मिगो ।
एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥३॥

भावार्थ–जैसे जंगल में मृग एकाकी विहार करता है इसी प्रकार संयम और तप का आचरण करता हुआ मैं भी एकाकी (रागद्वेष रहित) होकर विहार करूँगा ।

जया मिगस्स आयंको, महारण्णम्मि जायइ ।
अच्छन्तं रुक्खमूलम्मि, को णं ताहे तिगिच्छइ ॥४॥

भावार्थ–जब महावन में मृग के रोग उत्पन्न होता है तब वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस मृग की उस समय कौन चिकित्सा करता है ?

को वा से ओसहं देइ, को वा से पुच्छइ सुहं ।
को वा से भत्तं व पाणं वा, आहरित्तु पणामए ॥५॥

भावार्थ–वहाँ उसे कौन औषधि देता है? कौन उसके शरीर का हाल पूछता है? उसे भोजन पानी लाकर कौन खिलाता पिलाता है?

जया मे सुही होइ, तया गच्छइ गोयरं ।
भत्तपाणस्स अट्ठाए, वल्लराणि सराणि य ॥६॥

भावार्थ–जब मृग स्वतः स्वस्थ होता है। तब वह चरने के लिये जाता है और वन तथा जलाशयों में चारा पानी की खोज करता है।

खाइत्ता पाणियं पाउं, वल्लरेहिं सरेहिं य ।
मिगचारियं चरित्ताणं, गच्छइ मिगचारियं ॥७॥

भावार्थ–जंगल में घास चर कर तथा सरोवर में पानी पीकर वह मृग की स्वाभाविक चर्या का आसेवन करता है एवं वापिस अपने निवास थान पर आ जाता है।

एवं समुट्ठिओ भिक्खू, एवमेव अणेगए ।
मिगचारियं चरित्ताणं, उड्ढं पक्कमइ दिसं ॥८॥

भावार्थ—संयम क्रिया में समुद्यत भिक्षु,मृग की तरह, रोगादि होने पर चिकित्सा की परवाह नहीं करता। वह मृग की तरह ही, किसी निश्चित स्थान पर निवास भी नहीं करता। इस प्रकार मृग जैसी चर्या का पालन कर मोक्षमार्ग का आराधक वह मुनि ऊर्ध्वदिशा की ओर गमन करता है अर्थात् निर्वाण प्राप्त करता है।

जहा मिए एग अणेगचारी, अणेगवासे धुवगोअरे अ।
एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे,नो हीलए नो वि य खिंसइज्जा॥९॥

भावार्थ—जैसे मृग अकेला रहता है और अपने घास पानी के लिये अनेक स्थानों में भ्रमण करता है। वह एक जगह टिक कर नहीं रहता और सदा गोचरी करके ही निर्वाह करता है। साधु भी मृग जैसी चर्या वाला होता है। उसे गोचरी में यदि अमनोज्ञ आहार भी मिले तो उसकी अवहेलना एवं दाता की निन्दा न करनी चाहिये।

(उत्तराध्ययन उन्नीसवां अध्ययन गाथा ७५ से ८३)

१८—सच्चा त्यागी

जे य कंते पिये भोए, लद्धे विपिट्ठीकुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥१॥

भावार्थ—जो पुरुष मनोज्ञ एवं प्रिय भोगों को ठुकरा देता है, स्वाधीन भोग सामग्री का त्याग करता है वही त्यागी कहा जाता है।

वत्थ गंध मलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य ।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥२॥

भावार्थ—जो अभाव या पराधीनता के कारण विवश हो वस्त्र, गन्ध, आभूषण, स्त्री, शय्या आदि भोग सामग्री का उपभोग नहीं करता वह त्यागी नहीं है। (दशवैकालिक दूसरा अ० गाथा ३, २)

१९—वमन किये हुए को ग्रहण न करना

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छन्ति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥१॥

भावार्थ-अगंधन कुल में उत्पन्न हुए सर्प जलती हुई दुःसह अग्नि में कूद पड़ते हैं किन्तु वमन किये हुए विष का पान करने की इच्छा तक नहीं करते।

धिरत्थु ते जसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥ २ ॥

भावार्थ—हे अपयश के चाहने वाले! तुम्हें धिक्कार है जो तुम असंयम जीवन के लिये वमन किये हुए भोगों को वापिस ग्रहण करना चाहते हो। इस अकार्य को करने की अपेक्षा तुम्हारा मर जाना बेहतर है। (दशवैकालिक दूसरा अ० गाथा ६–७)

वंतासी पुरिसो रायं, न सो होइ पसंसिओ।
माहणेण परिच्चत्तं, धणमादाउमिच्छसि ॥३॥

भावार्थ--हे राजन्! आप ब्राह्मण से छोड़े हुए धन को ग्रहण करना चाहते हैं। पर आपको यह मालूम होना चाहिये कि वमन की हुई वस्तु को खाने वाले की प्रशंसा नहीं, परन्तु निन्दा ही होती है।
(उत्तराध्ययन चौदहवां अ० गाथा ३८)

जह वंतं तु अभोज्जं, भत्तं जइविय सुसक्कयं आसि।
एवमसंजमवमणे, अणेसणिज्जं अभोज्जं तु ॥४॥

भावार्थ- चाहे भोजन कितना ही बढ़िया संस्कार वाला हो पर वमन कर देने पर व , जैसे खाने योग्य नहीं रहता। इसी प्रकार असंयम का त्याग कर देने के बाद असंयमकारी अनेषणीय आहार भी साधु के लिये भोजन योग्य नहीं होता। (पिण्डनिर्युक्ति गाथा १६१)

णिक्खम्ममाणाइ य वुद्धवयणे,
णिच्चं चित्तसमाहिओ हवेज्जा।
इत्थीण वसं न यावि गच्छे,
वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥ ॥

भावार्थ--भगवान् की आज्ञानुसार दीक्षा लेकर जो सदा उनके वचनों में सावधान रहता है। स्त्रियों के वश नहीं होता तथा छोड़े हुए विषयों का पुनः सेवन नहीं करता वही सच्चा साधु है।
(दशवैकालिक दसवां अध्ययन गाथा १)

चिच्चाण धणं च भारियं, पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आविए, समयं गोयम! मा पमायए।६।

भावार्थ--हे गौतम! तुम धन और स्त्री का त्याग कर दीक्षित हुए हो। वमन किये हुए इनका पुनः पान न करना एवं समय मात्र भी प्रमाद न करना। (उत्तराध्ययन दसवां अ० गाथा २६)

१०—पूजा प्रशंसा का त्याग

अच्चणं रयणं चेव, वंदणं पूयणं तहा।
इड्ढी सक्कार सम्माणं, मणसा वि न पत्थए ॥१॥

भावार्थ--अर्चा, पूजा, वन्दना, नमस्कार, ऋद्धि, सत्कार और सम्मान-इनकी मुमुक्षु मन से भी इच्छा न करे।
(उत्तराध्ययन ३५ वां अध्ययन गाथा १८)

जसं कित्ति सिलोगं च, जा य वंदण पूयणा ।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया ॥२॥

भावार्थ--यश, कीर्त्ति, श्लाघा, वन्दन और पूजन तथा समस्त लोक में जो कामभोग हैं वे आत्मा के लिये अहितकर हैं। अतएव विद्वान् मुनि को इनका त्याग करना चाहिये।

(सूयगडांग नवा अध्ययन गाथा २२)

अभिवायण मब्भुट्ठाणं, सामी कुज्जा निमंतणं ।
जो ताइं पडिसेवंति, नो तेसिं पीहए मुणी ॥३॥

भावार्थ—जो स्वतीर्थी या अन्यतीर्थी साधु राजा आदि द्वारा किये गये अभिवादन (नमस्कार), अभ्युत्थान एवं निमंत्रण का सेवन करते हैं। उन्हें देखकर साधु उनके सौभाग्य की सराहना एवं कामना न करे। (उत्तराध्ययन दूसरा अ० गाथा ३८)

नो कित्ति वण्ण सद्द सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा ।
नो कित्तिवण्ण सद्द सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा ।४।

भावार्थ—आचार का पालन एवं तप का अनुष्ठान कीर्त्ति, वर्ण, शब्द और श्लाघा के लिये न होना चाहिये।

नोट—सभी दिशाओं में फैला हुआ यश कीर्ति है, एक दिशा में फैला हुआ यश वर्ण है। अर्द्ध दिशा में फैला हुआ यश शब्द है एव स्थानीय यश श्लाघा कहा जाता है।

(दशवैकालिक नवां अध्ययन चौथा उद्देशा)

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्ण मणुचिट्ठइ ॥५॥

भावार्थ—साधु को चाहिये कि वन्दना न करने वाले पर वह

कोप न करे और न वन्दना किये जाने से अभिमान ही करे। भगवान् की इस आज्ञा का आराधक मुनि पूर्ण साधुत्व का अधिकारी होता है। (दशवैकालिक पांचवां अध्ययन दूसरा उद्देशा गाथा ३०)

तेसिं पि न तवो सुद्धो, निक्खन्ता जे महाकुला।
जं नेवन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जए ॥ ६ ॥

भावार्थ—महान् सम्पन्न कुल के ऋद्धि ऐश्वर्य का त्याग कर दीक्षा लेने वाले पुरुष भी यदि पूजा प्रतिष्ठा के लिये तप का आचरण करते हैं तो उनका वह तप अशुद्ध है। साधु को इस प्रकार तप करना चाहिये कि दूसरों को उसका पता ही न लगे। उसे अपनी प्रशंसा भी कभी न करनी चाहिये। (सूयगडांग अ० ८ गाथा २४)

महयं पलिगोव जाणिया, जा वि य वंदण पूयणा इह।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विउमन्ता पयहिज्ज संथवं ॥७॥

भावार्थ—लोक में जो वन्दना पूजा रूप सत्कार होता है वह साधु के लिये महान् अभिष्वङ्ग (आसक्ति) रूप है। यह बड़ा ही सूक्ष्म शल्य है जिसका निकालना अति कठिन है। अतएव विवेकशील साधु को गृहस्थों से परिचय ही न रखना चाहिये।

(सूयगडांग दूसरा अध्ययन दूसरा उद्देशा गाथा ११)

पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए।
बहुं पसवइ पावं माया सल्लं च कुव्वइ ॥८॥

भावार्थ—पूजा एवं प्रशंसा की कामना तथा मान सन्मान की लालसा वाला साधु बहुत पाप करता है एवं माया शल्य का सेवन करता है। (दशवैकालिक पांचवां अ० दूसरा उ० गाथा ३५)

इड्ढिं च सक्कारण पूयणं च, ।
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥९॥

भावार्थ–जो ऋद्धि सत्कार और पूजा का त्याग करता है, जो ज्ञानादि में स्थित है एवं माया रहित है वही भिक्षु है।

(दशवैकालिक दसवा अध्ययन गाथा १७)

नो सक्किय मिच्छइ न पूयं,
नो वि य वंदणगं कुओ पसंसं।
से संजए सुव्वए तवस्सी,
सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥१०॥

भावार्थ–जो साधु सत्कार नहीं चाहता, वन्दना और पूजा की इच्छा नहीं करता एवं प्रशंसा का अभिलाषी नहीं है वही सदनुष्ठान करने वाला, सुव्रत वाला और तपस्वी है। ज्ञान क्रिया सहित होकर मोक्ष की गवेषणा करने वाला वही सच्चा भिक्षु है।

(उत्तराध्ययन पन्द्रहवा अध्ययन गाथा ५)

२१—रति अरति

अमरोवमं जाणिय सोक्खमुत्तमं,
रयाण परियाय तहाऽरयाणं।
निरयोवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं,
रमेज्ज तम्हा परियाय पंडिए ॥१॥

भावार्थ–संयम में रति रखने वाले मुनियों के लिये साधु पर्याय देवलोक की तरह सुखद है एवं संयम में अरति वालों को यही पर्याय नरक की तरह दुःखद प्रतीत होती है। इसलिये पंडित मुनि सदा साधु-पर्याय में रत रहे। (दशवैकालिक पहली चूलिका गाथा ११)

सज्झाय संजम तवे, वेआवच्चे अ झाण जोगे अ।
जो रमइ नो रमइ असंजमम्मि सो वच्चइ सिद्धिं॥२॥

भावार्थ–जो पुरुष स्वाध्याय, संयम, तप, वैयावृत्त्य तथा धर्म-ध्यान में रत रहता है और असंयम से निवृत्त रहता है वह मोक्ष प्राप्त करता है। (दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा ३६६)

अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के ॥३॥

भावार्थ–संसार की असारता को जानने वाला साधु संयम विषयक अरति को दूर करे। ऐसा करने से वह अल्प काल में ही मुक्त हो जाता है। (आचारांग दूसरा अध्ययन दूसरा उद्देशा सूत्र ७१)

नारइं सहई वीरे, धीरे न सहई रइं ।
जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे न रज्जइ ॥४॥

भावार्थ–धीर साधु संयम विषयक अरति एवं विषय परिग्रह सम्बन्धी रति को अपने मन में स्थान नहीं देता। उक्त रति अरति से निवृत्त होने के कारण वह शब्दादि विषयों में मूर्च्छित नहीं होता।
(आचारांग दूसरा अध्ययन छठा उद्देशा सूत्र ९९)

अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए ।
धम्मारामे निरारंभे, उवसंते मुणी चरे ॥५॥

भावार्थ–यदि कभी मोहवश साधु को संयम में अरति उत्पन्न हो तो उसे उसका तिरस्कार कर देना चाहिये। हिंसादि से निवृत्त एवं दुर्गति से आत्मा की रक्षा चाहने वाले साधु को धर्म ही में रत रहना चाहिये। उसे आरम्भ तथा कषाय का त्याग करना चाहिये।
(उत्तराध्ययन दूसरा अध्ययन गाथा १५)

बालाभिरामेसु दुहावहेसु, न तं सुहं कामगुणेसु रायं।
विरत्तकामाण तवोधणाण, जं भिक्खूणं सीलगुणे रयाणं

भावार्थ–हे राजन्! बालमनोहर दुःखावह इन कामगुणों

में, वह सुख नहीं है जो सुख शील गुणों में रत रहने वाले, शब्दादि विषयों से विरक्त तपस्वी मुनियों को होता है।

(उत्तराध्ययन तेरहवा अध्ययन गाथा १७)

२२—यतना

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहं आसे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥१॥

भावार्थ—कैसे चले? कैसे खड़ा हो? कैसे बैठे और कैसे सोये? तथा किस प्रकार भोजन एवं भाषण करे कि पापकर्म का बन्ध न हो?

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥२॥

भावार्थ—यतना से चले, यतना से खड़ा हो, यतना से बैठे और यतना से सोवे। इसी प्रकार यतना से भोजन एवं भाषण करने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। (दशवैकालिक चौथा अ० गाथा ७-८)

जयणेह धम्म जणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव।
तव वुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥३॥

भावार्थ—यतना धर्म की जननी है और यतना ही धर्म का रक्षण करने वाली है। यतना से तप की वृद्धि होती है और वह एकान्त रूप से सुख देने वाली है। (प्रतिमा शतक)

२३—विनय

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो।
जेण कित्तिं सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ ॥१॥

भावार्थ-विनय धर्म रूप वृक्ष का मूल है और मोक्ष उसका सर्वोत्तम रस है। विनय से कीर्ति होती है और पूर्णतः प्रशस्त श्रुतज्ञान का लाभ होता है। (दशवैकालिक नवा अ० उ० २ गाथा २)

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे।
विणयाउ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो।४।

भावार्थ-विनय जिनशासन का मूल है। विनीत पुरुष ही संयमवन्त होता है। जो विनयरहित है उसके धर्म और तप कहाँ से हो सकते हैं? (हरिभद्रीयावश्यक निर्युक्ति गाथा १२१६)

आणा निद्देसकरे, गुरूण मुववाय कारए।
इंगियागार सम्पन्ने, से विणीए त्ति वुच्चइ ।।३।।

भावार्थ-जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इंगित तथा आकारों को समझता है वही शिष्य विनीत कहलाता है। (उत्तराध्ययन पहला अ० गाथा २)

विणएण णरो गंधेण, चंदणं सोमयाइ रयणियरो।
महुररसेणं अमयं, जणप्पियत्तं लहइ भुवणे ।।४।।

भावार्थ-जैसे संसार में सुगन्ध के कारण चन्दन, सौम्यता के कारण शशि एवं मधुरता के कारण अमृत लोक में प्रिय है। इसी प्रकार विनय के कारण मनुष्य भी लोगों का प्रिय बन जाता है।
(धर्मरत्न प्रकरण १ अधिकार)

अणासवा थूलवया कुसीला, मिउंपि चंडं पकरंति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया, पसादए ते हु दुरासयं।५।

भावार्थ-गुरु का वचन नहीं सुनने वाले, कठोर वचन बोलने वाले एवं दुःशील का आचरण करने वाले शिष्य सौम्य स्वभाव

वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं। इसके विपरीत गुरु की चित्त-वृत्ति का अनुसरण करने वाले और बिना विलम्ब शीघ्र ही गुरु का कार्य करने वाले शिष्य, तेज स्वभाव वाले गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं। (उत्तराध्ययन पहला अध्ययन गाथा १३)

जे यावि मंदत्ति गुरुं विइत्ता, डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा, करेंति आसायण ते गुरूणं॥

भावार्थ–गुरु को मन्दबुद्धि, छोटी अवस्था का एवं अल्पश्रुत जान कर जो उनकी अवहेलना करते हैं वे मिथ्यात्व को प्राप्त कर गुरु की आशातना करते हैं। (दशवैकालिक नवाँ अध्ययन पहला उ० गाथा २)

विणयं पि जो उवाएणं, चोइओ कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमिज्जंतिं, दंडेण पडिसेहए॥७॥

भावार्थ- विविध उपायों से विनय के लिये जो प्रेरणा करता है उस पर कोप करना मानो आती हुई दिव्य लक्ष्मी को लाठी मार कर रोकना है। दशवैकालिक नवा अध्ययन उ० २ गाथा ४)

जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसगे सिया।
जे मोणपयं उवट्ठिए, नो लज्जे समयं सया चरे॥८॥

भावार्थ–चाहे कोई अनायक यानी स्वामी रहित चक्रवर्ती हो या कोई दास का भी दास हो किन्तु जिसने संयम स्वीकार किया है। उसे लज्जा का त्याग कर समताभाव का आचरण करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि चक्रवर्ती को, दासानुदास को, वन्दना करने में लज्जित न होना चाहिये और न दासानुदास को चक्रवर्ती से वन्दना पाकर गर्वित ही होना चाहिये।

(सूयगडांग दूसरा अध्ययन दूसरा उद्देशा गाथा ३)

जे आयरियउवज्झायाणं, सुस्सूसावयणंकरा ।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ॥९॥

भावार्थ—जो शिष्य आचार्य उपाध्याय की सेवा शुश्रूषा करते हैं, उनकी आज्ञा का पालन करते हैं उनका ज्ञान जल से सींचे हुए वृक्षों की तरह खूब बढ़ता है। (दशवैकालिक नवा अ० उ० २ गाथा १२)

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से ऽभिगच्छइ ॥१०॥

भावार्थ—अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है और विनीत को सम्पत्ति प्राप्त होती है जिसने ये दो बातें जान ली हैं वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है। (दशवैकालिक नवा अ० दूसरा उ० गाथा २१)

णच्चा णमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायए ।
हवइ किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगई जहा ॥११॥

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष विनय का माहात्म्य समझ कर विनम्र बनता है। लोक में उसकी कीर्ति होती है और वह सदनुष्ठानों का आधार रूप होता है जैसे कि पृथ्वी प्राणियों के लिये आधाररूप है। (उत्तराध्ययन पहला अ० गाथा ४५)

२४—विजय

जे केइ पत्थिवा तुज्झं, नानमंति नराहिवा ।
वसे ते ठावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया ॥१॥

भावार्थ—इन्द्र-हे राजन् ! जो राजा तुम्हारी अधीनता स्वीकार कर तुम्हें झुकते नहीं हैं उन्हें अधीन कर पीछे तुम प्रव्रज्या लेना।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥२॥

भावार्थ-इन्द्र को राजर्षि नमिराज का उत्तर-एक वीर दुर्जय संग्राम में लाखों योद्धाओं को जीत लेता है और एक महात्मा अपने आत्मा पर विजय प्राप्त करता है। इन दोनों में महात्मा की विजय ही श्रेष्ठ विजय है।

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ।
अप्पाण मेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥३॥

भावार्थ-अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिये। बाहरी स्थूल शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? आत्मा द्वारा आत्मा को जीतने वाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है।

पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोभं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥४॥

भावार्थ-पांच इन्द्रियां, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा सब से अधिक दुर्जय मन को जीतना ही आत्मा की विजय है। आत्मा को जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।

(उत्तराध्ययन नवा अध्ययन गाथा ३२, ३४, ३५, ३६)

अणेगाणं सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा!।
ते अ ते अभिगच्छंति, कहं ते निज्जिया तुमे ॥५॥

भावार्थ-केशीस्वामी-हे गौतम! तुम हजारों शत्रुओं के बीच रहते हो और वे तुम पर आक्रमण करते रहते हैं। तुमने उन सभी को कैसे जीत लिया?

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥६॥

भावार्थ-केशीस्वामी को गौतम स्वामी का उत्तर-एक आत्मा

को जीतने से पांच यानी आत्मा तथा चार कषाय जीत लिये जाते हैं। पांच को जीतने से उक्त पांच तथा पांच इन्द्रियां ये दस जीत लिये जाते हैं। उक्त दसों को जीत कर मैं सभी शत्रुओं को जीत लेता हूँ।

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि य।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ॥७॥

भावार्थ–वश नहीं किया हुआ यह आत्मा शत्रु है। इसी प्रकार कषाय और इन्द्रियाँ भी वश न होने से शत्रुरूप हैं। हे मुने! मैं इन शत्रुओं को शास्त्रोक्त न्याय से जीत कर शान्ति-पूर्वक विहार करता हूँ। (उत्तराध्ययन तेईसवा अ० गाथा ३५,३६, ३८)

इमेणं चेव जुज्झाइ किं ते जुज्झेण बज्झओ।
जुद्धारिहं खलु दुल्लभं ॥८॥

भावार्थ–कषाय और विषयों के वश हुए इस आत्मा के साथ युद्ध करो, बाहर युद्ध करने से क्या लाभ? भावयुद्ध योग्य यह मानव भव अति दुर्लभ है।

(आचारांग पांचवा अ० दूसरा उ० सूत्र १५४, १५५)

२५—दान

दाणं सीलं च तवो भावो, एवं चउव्विहो धम्मो।
सव्व जिणेहिं भणिओ, तहा दुहा सुअचरित्तेहिं ॥१॥

भावार्थ–दान,शील, तप और भावना–यह चार प्रकार का धर्म सभी तीर्थङ्करों ने कहा है। श्रुत चारित्र के भेद से धर्म के दो प्रकार भी उन्होंने कहे हैं। (सप्ततिशतस्थान प्रकरण गाथा ९६)

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं ॥२॥

भावार्थ-सभी दानों में अभयदान श्रेष्ठ है।

(सूयगडांग छठा अध्ययन गाथा २३)

धम्म सरूवे परिणवइ, चाउ वि पत्तहं दिण्णु।
साइयजलु सिप्पिहिं गयउ, मुत्तिउ होइ रवण्णु।३।

भावार्थ-पात्र को दिया हुआ दान धर्म रूप परिणत होता है। स्वातिजल सीप में पड़ कर रमणीय मोती बन जाता है।

(सावयधम्म दोहा गाथा ६१)

तते णं मल्ली अरहा सल्लाकल्लिं जाव मागहओ पायरासोत्ति बहूणं सणाहाण य अणाहाण य पंथियाण य पहियाण य करोडियाण य कप्पडियाण च एगमेगं हिरण्णकोडी अट्ठ य अणूणातिं सयसहस्सातिं इमेयारूवं अत्थसंपदाणं दलयति ॥४॥

भावार्थ-(मल्लिनाथ का संवत्सर दान) इसके पश्चात् मल्लि तीर्थङ्कर, प्रतिदिन सूर्योदय से प्रातःकालीन भोजन समय यानी दोपहर तक, सनाथ, अनाथ, पथिक, प्रेष्य तथा भिक्षुओं को पूरे एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मोहरों परिमाण धन का दान करने लगे।

(ज्ञातासूत्र आठवां अध्ययन सूत्र ७६)

संवच्छरेण होहिंति, अभिक्खमणं तु जिणवरिंदाणं।
नो अत्थि संपदाणं पव्वत्ती पुव्वसूराओ ॥५॥
एगा हिरण्ण कोडी, अट्ठेव अणूणया सय सहस्सा।
सूरोदयमादीयं, दिज्जइ जा पायरासोत्ति ॥ ६ ॥

भावार्थ-तीर्थङ्कर देव दीक्षा धारण करने से एक वर्ष पहले सूर्योदय से लेकर दान देना प्रारम्भ करते हैं।

सूर्योदय से लेकर प्रातःकालीन भोजन तक वे एक करोड़

आठ लाख स्वर्ण मोहरों का दान करते हैं।

(आचारांग दूसरा श्रुतस्कन्ध तेईसवां अध्ययन गाथा ११२, ११३)

दुल्लहा हु मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सुग्गइं ॥७॥

भावार्थ—बदला पाने की आशा बिना निःस्वार्थ बुद्धि से दान देने वाले दुर्लभ हैं और निःस्पृहभाव से शुद्ध भिक्षा द्वारा जीवन यापन करने वाले भी विरले ही होते हैं। निःस्वार्थ भाव से दान देने वाले और निःस्पृह भाव से दान लेने वाले दोनों ही सुगति में जाते हैं। (दशवैकालिक पांचवां अ० पहला उ० गाथा १००)

२६—तप

जहा महातलागस्स संनिरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥१॥

भावार्थ—जिस तालाब में नया पानी आना बन्द है उसका पानी, बाहर निकालने से तथा धूप से जैसे धीरे धीरे सूख जाता है।

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्म निरासवे।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई ॥२॥

भावार्थ—इसी प्रकार नवीन पाप कर्म रोक देने पर, संयमी साधुओं के करोड़ों भवों के संचित कर्म तप द्वारा नष्ट हो जाते हैं।

(उत्तराध्ययन तीसवा अध्ययन गाथा ५-६)

तवेणं भंते जीवे किं जणेइ? तवेणं वोदाणं जणेइ ॥३॥

भावार्थ—हे भगवन्! तप का आचरण करने से क्या फल प्राप्त होता है? तप से पूर्व बद्ध कर्मों का नाश होता है एवं आत्मा विशिष्ट शुद्धि प्राप्त करता है। (उत्तराध्यन उनतीसवां अ० प्रश्न २७)

तवनारायजुत्तेणं भित्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चइ ॥४॥

भावार्थ-(पराक्रम रूपी धनुष में) तप रूप बाण चढ़ा कर मुनि कर्म रूप कवच (बख्तर) का भेदन कर देता है और संग्राम से निवृत्त होकर इस संसार से मुक्त हो जाता है ।

(उत्तराध्ययन नवा अध्ययन गाथा २२)

कसेहिं अप्पाणं,जरेहि अप्पाणं जहा जुण्णाइं कट्ठाइं,
हव्ववाहो पमत्थति, एवं अत्तसमाहिए अणिहे ॥५॥

भावार्थ—कठोर तप का आचरण कर आत्मा को कृश एव जीर्ण कर दो। जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र ही जला देती है इसी प्रकार आत्मसमाधिवन्त मुनि स्नेह रहित होकर तप रूप अग्नि से कर्म रूपी काष्ठ को शीघ्र ही जला देता है।

(आचाराग चौथा अध्ययन तीसरा उद्देशा सूत्र १३६)

विविहगुणतवो रए य निच्चं,भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं,जुत्तो सया तव समाहिए ।६।

भावार्थ-तप समाधिवन्त मुनि सदा विविध गुण वाले तप में रत रहता है । वह ऐहिक एवं पारलौकिक सुखों की कामना नहीं करता । कर्मों की निर्जरा चाहने वाला वह मुनि तप द्वारा पुराने कर्म दूर कर देता है। (दशवैकालिक नवां अ० तीसरा उ० गाथा ४)

सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा ण हायंति ॥७॥

भावार्थ--तप ऐसा करना चाहिये कि विचारों की पवित्रता बनी रहे। इन्द्रियों की शक्ति हीन न हो एवं साधु के दैनिक कर्त्तव्यों

में शिथिलता न आने पावे ।

(मरणसमाधि प्रकीर्णक गाथा १३४) (महानिशीथ पहली चूलिका गाथा १४)

तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ।८।

भावार्थ–तप रूप अग्नि है । जीव अग्नि का कुंड है । मन वचन काया के शुभ व्यापार तप रूप अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये घी डालने की कुड़छी समान और यह शरीर कंडे समान है । कर्म रूप लकड़ी है और संयम के व्यापार शान्ति पाठ रूप हैं । इस प्रकार मैं ऋषियों द्वारा प्रशंसा किया गया चारित्र रूप भाव होम करता हूँ।

(उत्तराध्ययन बारहवा अध्ययन गाथा ४४)

तवस्सियं किसं दंतं, अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥९॥

भावार्थ–जो तपस्वी है, दुबला पतला है, इन्द्रियों का निग्रह करने वाला है, उग्र तप कर जिसने शरीर के रक्त और मांस सुखा दिये हैं, जो शुद्ध व्रत वाला है, जिसने कषाय को शान्त कर आत्मशान्ति प्राप्त की है उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं ।

(उत्तराध्ययन पचीसवां अध्ययन गाथा २२)

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो,
न दीसई जाइ विसेस कोइ ।।१०।।

भावार्थ–साक्षात् तप ही की विशेषता दिखाई देती है, जाति में कोई विशेषता नहीं है । (उत्तराध्ययन बारहवां अ० गाथा ३७)

एवं तवं तु दुविहं, जं सम्मं आयरे मुणी ।
से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ।११।

भावार्थ—जो पण्डित मुनि अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायाक्लेश और प्रतिसंलीनता रूप बाह्य तप एवं प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग रूप आभ्यन्तर तप का सम्यक् आचरण करता है वह शीघ्र ही चतुर्गति रूप संसार से मुक्त हो जाता है। (उत्तराध्ययन तीसवां अ० गाथा ३७)

१७—अनासक्ति

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥१॥

भावार्थ—जैसे कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से निर्लिप्त रहता है। इसी प्रकार कामभोगों में लिप्त-आसक्त न होने वाले पुरुष को हम ब्राह्मण कहते हैं। उत्तराध्ययन पच्चीसवां अ० गाथा २७)

रूवेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे, आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥२॥

भावार्थ—जो आत्मा, रूप में तीव्र गृद्धि—आसक्ति रखता है वह असमय में ही विनाश प्राप्त करता है। रागातुर पतंग दीपक की लौ में मूर्च्छित होकर प्राणों से हाथ धो बैठता है।

सद्देसु जो गेहिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ सो विणासं।
रागाउरे हरिणमिउव्व मुद्दे, सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ।३।

भावार्थ—जो जीव शब्दों में अत्यन्त आसक्त है वह अकाल ही में विनष्ट हो जाता है। रागवश हिरण संगीत में मुग्ध होकर अतृप्त ही मौत का शिकार हो जाता है।

गंधेसु जो गेहिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ सो विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे, सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते॥

भावार्थ--जो जीव गन्ध में तीव्र आसक्ति रखता है वह नागदमनी आदि औषधि की सुगन्ध में गृद्ध होकर रागवश बिल से बाहर आये हुए सर्प की तरह शीघ्र ही विनाश प्राप्त करता है।

रसेसु जो गेहिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ सो विणासं।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए, मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे।

भावार्थ--रागवश मांस के स्वाद में मूर्च्छित हुआ मत्स्य (मछली) जैसे कांटे में फँसकर मर जाता है इसी प्रकार रसों में गृद्धि रखने वाला आत्मा भी अकाल ही में विनाश पाता है।

फासेसु जो गेहिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ सो विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्नो, गाहग्गहीए महिसे व रण्णे॥६॥

भावार्थ--रागवश शीतल जल में सुख से बैठा हुआ भैंसा जैसे मगर से पकड़ा जाकर मारा जाता है इसी प्रकार मनोहर स्पर्शों में तीव्र आसक्ति वाला आत्मा अकाल ही में विनाश पाता है।

भावेसु जो गेहिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ सो विणासं।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे, करेणुमग्गावहिए व नागे॥७॥

भावार्थ--कामगुणों में गृद्ध होकर हथिनी का पीछा करने वाला रागाकुल हाथी जैसे पकड़ा जाता है और संग्राम में मारा जाता है। इसी प्रकार विषय सम्बन्धी भावों में तीव्र गृद्धि रखने वाला आत्मा अकाल ही में विनाश प्राप्त करता है।

(उत्तराध्ययन बतीसवां अध्ययन गाथा २४,३७,५०,६३,७६,८९,)

जे इह सायाणुगा णरा, अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया ।
किवणेण समं पगब्भिया, न विजाणन्ति ते समाहिमाहियं ।

भावार्थ--इस लोक में जो सुख के पीछे पड़े रहते हैं, समृद्धि, रस और साता गारव में आसक्त हैं और कामभोगों में मूर्च्छित हैं वे कायर हैं और शब्दादि विषय सेवन के लिये ढिठाई करते हैं। वे लोग कहने पर भी धर्मध्यान रूप समाधि को नहीं समझते ।

(सूयगडाग दूसरा अध्ययन तीसरा उद्देशा गाथा ४)

अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासी चंदण कप्पो अ, असणे अणसणे तहा ॥९॥

भावार्थ--मुमुक्षु इसलोक और परलोक के सुखों में आसक्ति-रहित होता है और इसलिये वह सदनुष्ठानों का सेवन उन्हें पाने की आशा से नहीं करता। वसूले से शरीर छीलने वाले शत्रु से वह द्वेष नहीं करता और न चन्दन का लेप करने वाले पर रागभाव ही लाता है। मनोज्ञ या अमनोज्ञ भोजन मिलने पर एवं भोजन के अभाव में भी वह सदा समभाव रखता है।

(उत्तराध्ययन उन्नीसवां अ० गाथा २६)

२८—आत्म-दमन

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥१॥

भावार्थ—आत्मा का दमन (वश) करना अति कठिन है। इसलिये आत्मा ही का दमन करना चाहिये। जिसने अपनी आत्मा को वश किया है वह इहलोक और परलोक दोनों जगह सुखी होता है।

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
मा हं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहि वहेहि य ॥२॥

भावार्थ--दूसरे लोग वध बन्धनादि द्वारा मेरा दमन करें इस की अपेक्षा यही अच्छा है कि मैं संयम और तप का आचरण कर अपने आप ही अपना दमन करूँ। (उत्तराध्ययन पहला अ०गाथा १५,१६)

पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि ॥ ३ ॥

भावार्थ--हे पुरुषो ! आत्मा को विषयों की ओर जाने से रोको। इस प्रकार तुम दुःखों से छूट सकोगे। (आचारांग अ० ३ उ० ३ सूत्र ११६)

अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विन्दिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुक्खाण मुच्चइ ॥४॥

भावार्थ--समस्त इन्द्रियों को अपने अपने विषयों की ओर जाने से रोक कर, पापों से अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिये। पापों से अरक्षित आत्मा संसार में भटका करता है और सुरक्षित आत्मा संसार के सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है।

(दशवैकालिक दूसरी चूलिका गाथा १६)

सोइंदिय निग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणेइ? सोइंदिय-निग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं च कम्मं न बंधइ पुव्वबद्धं च निज्जरइ।५।

भावार्थ--हे भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव को क्या फल प्राप्त होता है ? हे गौतम ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से आत्मा मनोज्ञ शब्दों में राग नहीं करता और अमनोज्ञ शब्दों से द्वेष नहीं करता। इस प्रकार वह राग द्वेष कारणक नये कर्म

नहीं बाँधता और पुराने बंधे हुए कर्मों की भी निर्जरा करता है।

(उत्तराध्ययन उनतीसवा अध्ययन प्रश्न ६२)

नोट—श्रोत्रेन्द्रिय की तरह अन्य इन्द्रियों को निग्रह करने का भी सूत्रकार ने क्रमशः इसी प्रकार का फल बतलाया है।

उव्वाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि णिव्वलासए, अवि ओमोयरियं कुज्जा, अवि उड्ढं ठाणं ठाएज्जा, अवि गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अवि आहारं वोच्छिंदिज्जा, अवि चए इत्थीसु मणं ॥६॥

भावार्थ—इन्द्रिय धर्मों से पीड़ित होने पर साधक को चाहिये कि वह नीरस भोजन करने लगे, ऊनोदरी करे, खड़ा रह कर कायोत्सर्ग करे, दूसरे ग्राम विहार कर देवे, आहार का कतई त्याग कर दे किन्तु स्त्रियों की ओर मन न जाने दे।

(आचारांग पांचवां अध्ययन चौथा उ० सूत्र १६०)

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं।
तं तारिसं न पइलंति इंदिआ,
उविंतवाया व सुदंसणं गिरिं ॥७॥

भावार्थ—जिस आत्मा का ऐसा दृढ़ निश्चय हो कि चाहे शरीर छूट जाय पर धर्माज्ञा का उल्लंघन न करूँगा, उसे इन्द्रियाँ संयम से ठीक उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकतीं जैसे सुमेरु पर्वत को आँधी चलित नहीं कर सकती। (दशवैकालिक पहली चूलिका गाथा ४७)

अयं साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।
जंसि गोयम ! आरूढो, कहं तेण न हीरसि ॥८॥

भावार्थ—केशी मुनि कहते हैं कि- हे गौतम ! महासाहसी भयंकर यह दुष्ट घोड़ा बड़ी तेज़ी से दौड़ रहा है । उस पर सवार हुए तुम उन्मार्ग की ओर क्यों नहीं ले जाये जाते ?

पहावंतं निगिण्हामि, सुय रस्सी समाहियं ।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जइ ॥९॥

भावार्थ—केशी मुनि को गौतम स्वामी उत्तर देते हैं कि—हे मुने! उन्मार्ग की ओर जाते हुए उस घोड़े को मैं शास्त्ररूपी लगाम से अपने नियन्त्रण में रखता हूँ। इस कारण वह मुझे उन्मार्ग में नहीं ले जाता किन्तु सन्मार्ग पर ही चलता है ।

मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं ।१०।

भावार्थ—यह मन रूपी घोड़ा है जो कि बड़ा उद्धत, भयङ्कर और दुष्ट है और उन्मार्ग की ओर दौड़ता रहता है। धर्म शिक्षा द्वारा मैं इसे, जातिवन्त घोड़े की तरह, सम्यक् प्रकार अपने वश में रखता हूं । (उत्तराध्ययन तेईसवा अ० गाथा ५५, ५६, ५८)

न सक्का न सोउं सद्दा, सोयविसयमागया ।
राग दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥११।

भावार्थ--यह सम्भव नहीं है कि कर्ण गोचर हुए शब्द सुने न जायँ। किन्तु भिक्षु को चाहिये कि वह उन पर रागद्वेष न लावे ।

नो सक्का रूवमदट्ठुं, चक्खु विसयमागयं ।
राग दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥१२॥

भावार्थ—चक्षु के सामने आया हुआ रूप न देखा जाय यह

कैसे सम्भव हो सकता है? किन्तु भिक्षु को सुन्दर रूप से राग और कुरूप से द्वेष न करना चाहिये।

न सक्का गन्ध मग्घाउं, नासाविसयमागयं ।
राग दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥१३॥

भावार्थ--नासिका गोचर हुई गन्ध न ली जाय, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? किन्तु मुनि को सुगन्ध पर राग और दुर्गन्ध से द्वेष न करना चाहिये।

न सक्का रस मस्साउं,जीहा विसयमागयं ।
राग दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ।१४।

भावार्थ--जिह्वा के विषय हुए रस का स्वाद न आये, यह नहीं हो सकता। किन्तु साधु को मनोज्ञ रस से राग एवं अमनोज्ञ रस से द्वेष न करना चाहिये।

न सक्का फासमवेएउं, फासविसयमागयं ।
राग दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ।१५।

भावार्थ--यह सम्भव नहीं है कि स्पर्शनेन्द्रिय से सम्बद्ध हुए स्पर्शों का अनुभव न हो किन्तु साधु को अनुकूल स्पर्शों से राग एवं प्रतिकूल स्पर्शों से द्वेष न करना चाहिये।
(आचारांग तेईसवा भावनाध्ययन पंचम महाव्रत की भावना की गाथाएं १-५)

एविंदियत्था य मणसा अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवंपि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेंति किंचि ॥१६॥

भावार्थ--इन्द्रिय एवं मन के विषय रागी मनुष्य के लिये दुःख-

दायी होते हैं किन्तु वीतराग पुरुष को ये विषय कभी थोड़ा सा भी दुःख नहीं देते। (उत्तराध्ययन बत्तीसवां अध्ययन गाथा १००)

?६—रसना (जीभ) का संयम

रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी

भावार्थ—घृत आदि रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिये क्योंकि प्रायः रस मनुष्यों में काम का उद्दीपन करते हैं। उद्दीप्त मनुष्य की ओर कामवासनाएं ठीक वैसे ही दौड़ी आती हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की ओर पक्षी दौड़े आते हैं।
(उत्तराध्ययन सोलहवां अध्ययन गाथा ७)

पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥२॥

भावार्थ—पौष्टिक रसीला भोजन विषय वासना को शीघ्र ही उत्तेजित करता है। अतएव ब्रह्मचारी साधु को इसका सदा त्याग करना चाहिये। (उत्तराध्ययन सोलहवां अ० गाथा ७)

जे मायरं च पियरं च हिच्चा, गारं तहा पुत्त पसुं धणं च।
कुलाइं जो धावइ साउगाइं, अहाहु से सामणियस्स दूरे॥

भावार्थ--माता, पिता, पुत्र परिवार, घर, पशु और धन का त्याग कर संयम अङ्गीकार करके भी जो स्वादवश स्वादिष्ट भोजन वाले घरों में भिक्षा के लिये जाता है वह साधुत्व से बहुत दूर है।
(सूयगडांग सातवा अध्ययन गाथा ६३)

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा आहारेमाणे णो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारेज्जा आसा-

एमाणे, दाहिणाओ वा हणुयाओ वामं हणुयं णो संचारेज्जा आसाएमाणे। से अणासायमाणे लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमन्नागए भवइ ॥४॥

भावार्थ- साधु या साध्वी अशनादि का आहार करते समय, स्वाद के लिये ग्रास को मुंह में बांयी ओर से दाहिनी ओर, और दाहिनी ओर से बांयी ओर न करे। इस प्रकार स्वाद का त्याग करने से साधु आहार विषयक लघुता--निश्चिन्तता प्राप्त करता है और उसके तप कहा गया है।

(आचारांग आठवां अध्ययन छठा उद्देशा सूत्र २११)

अलोलो न रसे गिद्धो, जिब्भादंतो अमुच्छिओ।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ॥५॥

भावार्थ- जिह्वा को वश करने वाला अनासक्त मुनि सरस आहार में लोलुपता एवं गृद्धि का त्याग करे। महामुनि स्वाद के लिये नहीं किन्तु संयम का निर्वाह करने के लिये भोजन करे।

(उत्तराध्ययन पैंतीसवां अध्ययन गाथा १७)

आयामगं चेव जवोदणं च, सीयं सोवीरजवोदगं च।
नो हीलए पिंडं नीरसं तु, पंतकुलाणि परिव्वए स भिक्खू ॥

भावार्थ--ओसामण, जौ का दलिया, ठंडा भोजन, कांजी का पानी, जौ का पानी, इस प्रकार स्वाद रहित नीरस भिक्षा पाकर भी जो साधु उसकी हीलना नहीं करता तथा असम्पन्न घरों में जाकर भिक्षा वृत्ति करता है वही सच्चा साधु है।

(उत्तराध्ययय पन्द्रहवा अध्ययन गाथा १३)

तंपि न रूवरसत्थं, न य वण्णत्थं न चेव दप्पत्थं।
संजम भरवहणत्थं, अक्खोवंगं व वहणत्थं ॥७॥

भावार्थ--जैसे पहिये को बराबर गति में रखने के लिये धुरी में तैल लगाया जाता है उसी प्रकार शरीर को संयम यात्रा योग्य रखने के लिये आहार करना चाहिये। किन्तु न स्वाद के लिये, न रूप के लिये, न वर्ण के लिये और न बल के लिये ही भोजन करना चाहिये। (गच्छाचार पइण्णा गाथा १८)

३०—कठोर वचन

मुहुत्त दुक्खा उ हवन्ति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥१॥

भावार्थ--लोहे के तीखे काँटे थोड़े समय तक ही दुःख देते हैं। और वे सहज ही शरीर में से निकाले जा सकते हैं। किन्तु हृदय में चुभे हुए कठोर वचनों का निकालना सहज नहीं है। इनसे वैर बँधता है और ये महा भयावह सिद्ध होते हैं।

(दशवैकालिक नवा अध्ययन तीसरा उद्देशा गाथा ७)

अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारुणं।
अट्ठे परिहायति बहू, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए ॥२॥

भावार्थ--जो साधु कलह करता है, दूसरों को भयभीत करने वाले दारुण वचन बोलता है। उसके संयम की बहुत हानि होती है। अतएव पंडित मुनि को चाहिये कि वह कलह न करे।

(सूयगडांग दूसरा अध्ययन दूसरा उ० गाथा १६)

अप्पत्तिअं जेण सिआ, आसु कुप्पिज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहिअगामिणिं ॥३॥

भावार्थ—जिस भाषा को सुनकर दूसरों को अप्रीति उत्पन्न

हो, सामने वाला शीघ्र ही कुपित हो, इहलोक और परलोक में आत्मा का अहित करने वाली ऐसी भाषा साधक को कतई न बोलनी चाहिये। (दशवैकालिक आठवॉं अ० गाथा ४८)

तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा।
वाहिअं वावि रोगित्ति, तेणं चोरत्ति नो वए ॥४॥

भावार्थ-काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, फिर भी ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि इससे उन व्यक्तियों को दुःख पहुँचता है।)
(दशवैकालिक सातवा अध्ययन गाथा १२)

तहेव फरुसा भासा, गुरु भूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥५॥

भावार्थ--जो भाषा कठोर हो, दूसरों को दुःख पहुँचाने वाली हो वह चाहे सत्य भी क्यों न हो, नहीं बोलनी चाहिये क्योंकि उससे पाप का आगमन होता है। (दशवैकालिक सातवा अ० गाथा ११)

अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥६॥

भावार्थ—साधु को बिना पूछे न बोलना चाहिये। गुरु महाराज कुछ कह रहे हों तो उनके बीच भी न बोलना चाहिये। उसे किसी की पीठ पीछे बुराई न करनी चाहिये और न माया प्रधान असत्य वचन ही कहना चाहिये। (दशवैकालिक आठवां अ० गाथा ४७)

दिट्ठं मिअं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअं जिअं।
अयंपिर मणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥७॥

भावार्थ—आत्मार्थी साधक को दृढ़ अनुभूत वस्तु विषयक,

संदेह रहित परिपूर्ण, स्पष्ट, वाचालता रहित और किसी को भी उद्विग्न न करने वाली वाणी बोलनी चाहिए।

(दशवैकालिक आठवा अध्ययन गाथा ४६)

सवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहइ पसंसणं ॥८॥

भावार्थ—साधु को सदा वचन शुद्धि का ख्याल रखना चाहिये और दूषित वाणी कभी न कहनी चाहिये। सोच विचार कर निर्दोष परिमित भाषा बोलने वाला साधु सत्पुरुषों में प्रशंसा पाता है।

भासाइ दोसे अ गुणे अ जाणिया,
तीसे अ दुट्ठे परिवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वइज्ज बुद्धे हिअमाणुलोमियं ॥९॥

भावार्थ—भाषा के गुण तथा दोषों को जान कर दूषित भाषा का सदा के लिये त्याग करने वाला, षट्काय जीवों की रक्षा करने वाला और चारित्र पालन में सदा तत्पर बुद्धिमान् साधु एक मात्र हितकारी और मधुर-मीठी भाषा बोले।

(दशवैकालिक सातवा अध्ययन गाथा ५५, ५६)

३१—कर्मों की सफलता

सव्व सुचिण्णं सफलं नराणं,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥१॥

भावार्थ-प्राणियों के सभी सदनुष्ठान फल सहित होते हैं। फलभोग किये बिना उनसे छुटकारा नहीं होता किन्तु वे अपना फल अवश्य देते हैं।

(उत्तराध्ययन तेरहवां अध्ययन गाथा १०)

तेणे जहा संधिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि॥

भावार्थ-जैसे संधिमुख (खात) पर चोरी करते हुए पकड़ा गया पापी चोर अपने कर्मों से दुःख पाता है इसी प्रकार यहाँ और परलोक में जीव स्वकृत कर्मों से ही दुःख भोग रहे हैं। फल भोगे बिना कृतकर्मों से मुक्ति नहीं हो सकती। (उत्तराध्ययन चौथा अ० गाथा ३)

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ॥३॥

भावार्थ-यह आत्मा अपने कर्मों के अनुसार कभी देवलोक में, कभी नरक में और कभी असुरों में उत्पन्न होता है।

(उत्तराध्ययन तीसरा अध्ययन गाथा ३)

न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं॥ ४॥

भावार्थ-पापी जीव का दुःख न जाति वाले बँटा सकते हैं और न मित्र लोग ही। पुत्र एवं भाई बन्धु भी उसके दुःख के भागीदार नहीं होते। केवल पाप करने वाला अकेला ही दुःख भोगता है क्योंकि कर्म कर्त्ता ही के साथ जाते हैं।

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुंदर पावगं वा॥५॥

भावार्थ—द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्र, घर, धन, धान्य-इन सभी को यहीं छोड़कर परवश हो यह आत्मा अपने कर्मों के साथ परलोक में जाता है और वहाँ अपने कर्मों के अनुसार अच्छा या बुरा भव प्राप्त करता है। (उत्तराध्ययन तेरहवां अध्ययन गाथा २३-२४)

३२—कामभोगों की असारता

जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शब्दादि विषय हैं वही संसार है और जो संसार है वही शब्दादि विषय है। (आचारांग पहला अ० पांचवा उ० सूत्र ४१)

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंवियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥२॥

भावार्थ—सभी संगीत विलाप रूप हैं, सभी नृत्य या नाटक विडम्बना रूप हैं, सभी आभूषण भार रूप हैं एवं सभी शब्दादि काम दुःख देने वाले हैं। (उत्तराध्ययन तेरहवां अध्ययन गाथा १६)

सुट्ठु वि मग्गिज्जंतो कत्थवि केलीइ नत्थि जह सारो।
इंदिय विसएसु तहा, नत्थि सुहं सुट्ठु वि गविट्ठं ॥३॥

भावार्थ—जैसे कदली (केले) में खूब गवेषणा करने पर भी कहीं सार नहीं मिलता इसी प्रकार इन्द्रिय विषय में भी तत्त्वज्ञों ने खूब खोज करके भी कहीं सुख नहीं देखा है।

(भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक गाथा १४४)

जह किंपागफलाणं, परिणामो न सुंदरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुंदरो ॥४॥

भावार्थ—जैसे किंपाक फलों का परिणाम सुन्दर नहीं होता

उसी प्रकार भुक्त भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता।

(उत्तराध्ययन उन्नीसवां अ० गाथा १७)

जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुंजमाणा।
ते खुद्दए जीविय पच्चमाणा, एसोवमा कामगुणा विवागे।५।

भावार्थ—जैसे किंपाक फल रूप रंग और रस की दृष्टि से शुरू में खाते समय बड़े मनोहर मालूम होते हैं किन्तु पचने पर वे इस जीवन ही का नाश कर देते हैं। इसी प्रकार कामभोग भी बड़े आकर्षक और सुखद प्रतीत होते हैं पर विपाक काल में वे सर्वनाश कर देते हैं। (उत्तराध्ययन बत्तीसवां अध्ययन गाथा २०)

खणमित्त सुक्खा बहुकाल दुक्खा,
पगाम दुक्खा अनिगाम सुक्खा।
संसार मुक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥ ६ ॥

भावार्थ—कामभोग क्षण मात्र सुख देने वाले हैं और चिरकाल तक दुःख देने वाले हैं। उनमें सुख बहुत थोड़ा है पर अतिशय दुःख ही दुःख है। ये कामभोग मोक्ष सुख के परम शत्रु हैं एवं अनर्थों की खान हैं। (उत्तराध्ययन चौदहवां अ० गाथा १३)

कामा दुरतिक्कमा, जीविय दुप्पडिवूहगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे से सोयइ जूरइ तिप्पइ पिट्टइ परितप्पइ ॥

भावार्थ—इच्छा और भोग रूप कामों का नाश करना अति कठिन है। यह जीवन भी नहीं बढ़ाया जा सकता। (अतएव कभी प्रमाद न करना चाहिये।) कामभोगों की कामना करने वाला आत्मा उनके प्राप्त न होने पर या उनका वियोग होने पर शोक करता है, खिन्न होता है, मर्यादा भंग करता है, पीड़ित होता है एवं परिताप करता है। (आचाराग दूसरा अ० पांचवां उ० सूत्र ९३)

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं ॥ ८ ॥

भावार्थ–कामभोग शल्य रूप हैं, विष रूप हैं और विषधर सर्प के समान हैं। कामभोगों का सेवन तो दूर रहा, केवल उनकी अभिलाषा करने से ही आत्मा दुर्गति में जाता है।

(उत्तराध्ययन नवां अध्ययन गाथा ५३)

कामेसु गिद्धा णिचयं करंति, संसिच्चमाणा पुणरिंति गब्भं।

भावार्थ–कामभोगों में आसक्ति रखने वाले प्राणी कर्मों का संचय करते हैं। कर्मों से पूर्ण होकर वे संसार में परिभ्रमण करते हैं।

(आचारांग तीसरा अध्ययन दूसरा उद्देशा सूत्र ११२)

अम्मताय! मए भोगा, भुत्ता विसफलोवमा।
पच्छा कडुयविवागा, अणुबन्ध दुहावहा ॥ १० ॥

भावार्थ–हे माता पिता! मैंने विष फल के सदृश इन भोगों को खूब भोगा है। अन्त में ये कटुक यानी अनिष्ट परिणाम वाले एवं निरन्तर दुःखदायी होते है। (उत्तराध्ययन उन्नीसवां अ० गाथा ११)

गुरू से कामा, तओ से मारंते, जओ से मारंते तओ से दूरे, नेव से अंतो नेव से दूरे ॥ ११ ॥

भावार्थ–अपरमार्थदर्शी आत्मा के लिये इन कामभोगों का त्याग करना अति कठिन है और इसी कारण वह जन्म मृत्यु के चक्र में फँसा रहता है। जन्म मृत्यु के चक्र में फँसकर वह यथार्थ सुख से बहुत दूर रहता है। इस प्रकार विषयाभिलाषी आत्मा विषय सुखों के प्राप्त न होने से न उनके समीप होता है और विषयाभिलाषा का त्याग न करने के कारण, न वह उनसे दूर ही होता है।

(आचारांग पांचवां अध्ययन पहला उ० सूत्र १४२)

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पइ ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चइ ॥१३॥

भावार्थ-शब्दादि भोग भोगने पर आत्मा कर्म मल से लिप्त होता है और अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में परिभ्रमण करता है और अभोगी संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है।

(उत्तराध्ययन पच्चीसवां अध्ययन गाथा ३६)

विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो व धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवण्णो॥

भावार्थ-जैसे कालकूट विष पीने वाले को, उल्टा पकड़ा हुआ शस्त्र शस्त्रधारी को एवं मंत्रादि से वश नहीं किया हुआ वेताल साधक को मार डालता है। इसी प्रकार शब्दादि विषय वाला यतिधर्म भी वेशधारी द्रव्य साधु को दुर्गति में ले जाता है।

(उत्तराध्ययन बीसवा अध्ययन गाथा ४४)

तण कट्ठेहि व अग्गी, लवण जलो वा नईसहस्सेहिं।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउं कामभोगेहिं ॥ १४ ॥

भावार्थ-जैसे तृण काष्ठों से अग्नि तृप्त नहीं होती, हजारों नदियों से भी लवण समुद्र को संतोष नहीं होता। इसी प्रकार कामभोगों से भी इस जीव की तृप्ति नहीं हो सकती।

(आतुरप्रत्याख्यान प्रकीर्णक गाथा ५०)

जस्सिमे सद्दा य, रूवा य, गंधा य, रसा य, फासा य अहिसमन्नागया भवंति से आयवी, णाणवी, वेयवी, धम्मवी, बंभवी ॥१५॥

भावार्थ-जो आत्मा मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शों में राग द्वेष नहीं करता, वही आत्मा ज्ञान, वेद (आचा-

रादि आगम), धर्म और ब्रह्म का जानने वाला है।

(आचारांग तीसरा अध्ययन पहला उ० सूत्र १०७–१०८)

दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह संति सुव्वया साहू, जे तरंति अतरं वणिया व ॥१६॥

भावार्थ–कामभोगों का त्याग करना बड़ा कठिन है। अधीर पुरुष इन्हें सहज ही नहीं छोड़ सकते। परन्तु जो सुन्दर व्रत वाले महापुरुष हैं वे दुस्तर भोग–समुद्र को तैर कर पार हो जाते हैं जैसे कि वणिक् लोग समुद्र को पार करते हैं।

(उत्तराध्ययन आठवां अध्ययन गाथा ६)

३३—अशरण

वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नई ।
एए मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई ॥१॥

भावार्थ–अज्ञानी पुरुष धन, पशु और जाति वालों को अपना शरण मानता है और समझता है कि 'ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ'। किन्तु वस्तुतः ये कोई भी त्राण या शरण रूप नहीं हैं।

(सूयगडांग दूसरा अध्ययन तीसरा उद्देशा गाथा १६)

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे, नेयाउयं दट्ठु मदट्ठुमेव ॥२॥

भावार्थ–प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा इसलोक या परलोक कहीं भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता। धन के असीम मोह से मूढ़ हुआ वह आत्मा; दीपक के बुझ जाने पर जैसे मार्ग नहीं दीख पड़ता वैसे ही, न्याय मार्ग को देखते हुए भी नहीं देख पाता है।

(उत्तराध्ययन चौथा अध्ययन गाथा ५)

थावरं जंगमं चेव, धणं धन्नं उवक्खरं ।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाउ मोयणे ॥३॥

भावार्थ–स्थावर जंगम सम्पत्ति, धान्य एवं घर गृहस्थी का अन्य सामान ये सभी कामों से पीड़ित हुए मनुष्य को दुःख से नहीं छुड़ा सकते हैं। (उत्तराध्ययन छठा अध्ययन गाथा ६)

नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा ।
तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा ॥ ४ ॥

भावार्थ–स्वजन सम्बन्धी लोग आपत्ति आने पर तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते, न तुम्हें शरण ही दे सकते हैं। तुम भी उनके त्राण एवं शरण के लिए समर्थ नहीं हो। (आचारांग अ०२उ०२ सूत्र ६७)

अप्पणा वि अणाहो ऽसि, सेणिया मगहाहिवा ।
अप्पणा अणाहो संतो, कहं नाहो भविस्ससि ॥५॥

भावार्थ–मगधदेश के अधिपति हे श्रेणिक ! तुम तो स्वयं ही अनाथ हो। जो स्वयं अनाथ है वह दूसरों का नाथ कैसे हो सकता है?
(उत्तराध्ययन बीसवां अध्ययन गाथा १२)

नोट—इसी ग्रन्थ के पाँचवें भाग में बोल नं० ८५४ में अनाथता का विशेष स्पष्टीकरण दिया गया है।

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते तव ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥६॥

भावार्थ–अपने कर्मों का फल भोगते हुए तुम्हें माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, पुत्रवधू तथा अन्य सम्बन्धीजन–ये कोई भी दुःख से बचाने में समर्थ नहीं हैं। (सूयगडांग नवां अ० गाथा ५)

संसारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारणं जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, न बंधवा बंधवयं उविंति ॥७॥

भावार्थ-संसारी आत्मा अपने प्रियजनों के लिये अनेक पाप कर्म करता है किन्तु उनका फल उसे अकेले ही भोगना पड़ता है। दुःख भोगने के समय बन्धुजन उसके दुःख के भागीदार नहीं होते।

(उत्तराध्ययन चौथा अध्ययन गाथा ४)

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बंधवा।
जीवंतमणुजीवंति, मयं नाणुव्वयंति य ॥८॥

भावार्थ-स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन ये सभी जीते जी के ही साथी हैं, मरने पर कोई भी साथ नहीं चलता।

(उत्तराध्ययन अठारहवां अध्ययन गाथा १४)

जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तम्मंसहरा भवन्ति ॥९॥

भावार्थ-जिस तरह सिंह हिरण को पकड़ कर ले जाता है, उसी तरह अन्त समय मृत्यु भी मनुष्य को उठा ले जाती है। उस समय माता पिता भाई आदि कोई भी अपने जीवन का अंश देकर उसे मृत्यु से नहीं छुड़ा सकते। (उत्तराध्ययन तेरहवा अ० गाथा २२)

अब्भागयम्मि वा दुहे, अहवा उक्कमिए भवान्तिए।
एगस्स गई य आगई, विदुमन्ता सरणं न मन्नई ॥१०॥

भावार्थ-अशुभ कर्म के उदय से जब दुःख प्राप्त होते हैं एवं आयु पूरी होने पर जब आत्मा मृत्यु का ग्रास बनता है तब उसे कोई भी नहीं बचा सकता। यह आत्मा परभव से अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है। इसीलिये विद्वान् पुरुष किसी को शरण रूप नहीं मानते। (सूयगडांग दूसरा अ० तीसरा उ० गाथा १७)

३४—जीवन की अस्थिरता

दुमपत्तए पंडुरए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए॥१॥

भावार्थ—जैसे वृक्ष का पीला पत्ता कुछ दिन निकाल कर वृन्त से शिथिल हो गिर पड़ता है। मानव जीवन भी पत्र जैसा ही है। आयु और यौवन अस्थिर हैं। अतएव, हे गौतम! क्षण भर भी प्रमाद न करो। (उत्तराध्ययन दसवा अध्ययन गाथा १)

कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए॥२॥

भावार्थ—जैसे कुशा की नोक पर रही हुई ओस की बिन्दु थोड़े समय तक अस्थिर रह कर गिर पड़ती है। मानव जीवन भी ओस बिन्दु की तरह ही अस्थिर एवं विनश्वर (नाशवान्) है। अतएव, हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद न करो।

(उत्तराध्ययन दसवां अध्ययन गाथा २)

न य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भई।
पच्चुप्पन्नेण कारियं, को दट्ठुं परलोगमागए॥ ३॥

भावार्थ—जीवन टूट जाने पर पुनः नहीं जोड़ा जा सकता फिर भी अज्ञानी जीव पापाचरण करते हुए लज्जित नहीं होता। धर्म के लिये प्रेरणा करने पर वह धृष्टतापूर्वक कहता है कि मुझे वर्तमान से प्रयोजन है, परलोक को देखकर कौन आया है?

(सूयगडांग दूसरा अध्ययन तीसरा उद्देशा गाथा १०)

असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, कन्नू विहिंसा अजया गहिंति॥

भावार्थ—यह जीवन असंस्कृत है। एक बार टूट जाने के बाद फिर नहीं जुड़ता। बुढ़ापा आने पर कोई रक्षा करने वाला नहीं होता। यह भी सोच लो कि हिंसा और असंयम में जीवन बिताने वाले प्रमादी पुरुष अन्त समय किस की शरण ग्रहण करेंगे ?

(उत्तराध्ययन चौथा अध्ययन गाथा १)

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं ।
जत्थ तं मुज्झसी रायं, पेच्चत्थं नाववुज्झसि ॥५॥

भावार्थ—हे राजन् ! मनुष्य जीवन और रूप सौन्दर्य, जिनमें आसक्त होकर तुम परलोक की उपेक्षा कर रहे हो, बिजली की चमक के समान चंचल हैं। (उत्तराध्ययन अठारहवां अ० गाथा १३)

डहरावुड्ढा य पासह, गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवं आउखयंमि तुट्टई ॥ ६ ॥

भावार्थ—यह मानव कभी बाल अवस्था में, कभी वृद्धावस्था में और कभी गर्भावस्था में ही प्राण त्याग कर देता है। जैसे श्येन पक्षी बटेर को मार डालता है इसी प्रकार आयुक्षय होने पर मृत्यु भी प्राण हरण कर लेती है। (सूयगडांग दूसरा अ० पहला उ० गाथा २)

इह जीवियमेव पासह, तरुणे वा ससयस्स तुट्टई ।
इत्तरवासे य बुज्झह, गिद्धा नरा कामेसु मुच्छिया ।७।

भावार्थ—इस संसार में अपना जीवन ही देखो। यह प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है। कभी यह तरुण अवस्था में समाप्त हो जाता है और कभी सौ वर्ष की आयु पूरी होने पर। इस प्रकार मानव जीवन को थोड़े काल का निवास समझो। क्षुद्र मनुष्य ही विषय भोग में आसक्त एवं मूर्च्छित रहते हैं।

(सूयगडांग दूसरा अध्ययन तीसरा उद्देशा गाथा ८)

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,इमं च मे किचमिमं अकिचं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंतित्ति कहं पमाओ ॥८॥

भावार्थ–यह मेरा है,यह मेरा नहीं है,यह मुझे करना चाहिये, यह नहीं करना चाहिये, इस प्रकार कहते कहते ही ये दिन रात मनुष्य की आयु पूरी कर देते हैं फिर धर्म में प्रमाद करना कैसे ठीक हो सकता है ? (उत्तराध्ययन चौदहवां अ० गाथा १५)

स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा,
एसोवमा सासयवाइयाणं ।
विसीदई सिढिले आउयम्मि,
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥९॥

भावार्थ–इस जीवन का कोई निश्चय नहीं है, कभी भी मृत्यु आ सकती है–इस सत्य को न समझ कर जीवन को शाश्वत समझने वाले लोग कहा करते हैं कि धर्म की आराधना फिर कभी कर लेंगे,अभी क्या जल्दी है ? ये लोग न पहले ही धर्म की आराधना कर पाते हैं न पीछे ही। यों कहते कहते ही उनकी आयु पूरी हो जाती है और काल आकर खड़ा हो जाता है तब अन्त समय में केवल पश्चाताप ही उनके हाथ रह जाता है।

(उत्तराध्ययन चौथा अध्ययन गाथा ६)

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं ।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥१०॥

भावार्थ–जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री हो, जो मृत्यु से बचकर भाग सकता हो अथवा जो यह निश्चय पूर्वक जानता हो कि मैं नहीं मरूँगा, वही किसी कार्य को कल पर छोड़ सकता है।

(उत्तराध्ययन चौदहवां अध्ययन गाथा २७)

३५—वैराग्य

धणेण किं धम्मधुराहिगारे, सयणेण वा कामगुणेहिं चेव।

भावार्थ—जहाँ धर्माचरण का प्रश्न है वहाँ धन से कोई मतलब नहीं। इसी तरह स्वजन एवं शब्दादि इन्द्रिय विषयों का भी उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

(उत्तराध्ययन चौदहवां अध्ययन गाथा १०)

जया सव्वं परिच्चज्ज, गंतव्व मवसस्स ते।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं रज्जम्मि पसज्जसि ॥२॥

भावार्थ—हे राजन्! यह जीव लोक अनित्य है। तुम्हें भी परवश हो यह सभी वैभव त्याग कर जब कभी न कभी जाना ही है तब फिर इस राज्य में क्यों आसक्त हो रहे हो?

(उत्तराध्ययन अठारहवां अध्ययन गाथा १२)

खित्तं वत्थु हिरण्णं च, पुत्तदारं च बंधवा।
चइत्ताण इमं देहं, गंतव्व मवसस्स मे ॥ ३ ॥

भावार्थ—क्षेत्र, वास्तु (घर), सोना, चाँदी, पुत्र, स्त्री और बन्धुजन इन सभी को, तथा इस शरीर को भी यहीं छोड़ कर कभी न कभी कर्मवश मुझे अवश्य जाना ही होगा।

(उत्तराध्ययन उन्नीसवां अध्ययन गाथा १६)

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं, दुक्ख केसाण भायणं ॥४॥

भावार्थ—यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, अशुचि से ही उत्पन्न हुआ है और अशुचि ही उत्पन्न करता है। यह दुःख और क्लेश का भाजन है। जीव का यह अशाश्वत आवास है, न जाने इसे कब छोड़ना पड़े?

असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेण बुब्बुय सन्निभे ॥५॥

भावार्थ–यह शरीर पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है, पहले या पीछे एक दिन इसे छोड़ना ही पड़ता है । यही कारण है कि विविध भोग सामग्री के सुलभ होते हुए भी इस अशाश्वत देह में मैं जरा भी सुख अनुभव नहीं करता ।

माणुस्सत्ते असारम्मि, वाहिरोगाण आलए ।
जरामरण घत्थम्मि, खणं पि न रमामि हं ॥६॥

भावार्थ–यह मानव शरीर असार है, व्याधि और रोगों का घर है तथा जरा और मरण से पीड़ित है । इसमें मैं क्षणभर भी आनन्द नहीं पाता । (उत्तराध्ययन उन्नीसवां अ० गाथा १२, १३, १४)

नीहरंति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया ।
पियरोवि तहा पुत्ते, बंधू रायं ! तवं चरे ॥७॥

भावार्थ–पिता के वियोग से अत्यन्त दुखित हुए भी पुत्र मृत पिता को घर से बाहर निकाल देते हैं और इसी प्रकार पिता भी मृत पुत्रों को घर से अलग कर देता है । बन्धुजन भी मृत बन्धु के साथ यही व्यवहार करते हैं । इस प्रकार संसार के सम्बन्धी को कच्चा समझ कर हे राजन् ! तप का आचरण करो ।

तओ तेणज्जिए दव्वे, दारे य परिरक्खिए ।
कीलंतन्ने नरा रायं, हट्ठ तुट्ठ मलंकिया ॥८॥

भावार्थ–इसके बाद मृत व्यक्ति द्वारा उपार्जित धन से एवं हर तरह से रक्षा की गई उसकी स्त्रियों के साथ दूसरे लोग हृष्ट, तुष्ट

(प्रसन्नचित्त) एवं अलंकृत होकर क्रीड़ा करते हैं।

(उत्तराध्ययन अठारहवा अध्ययन गाथा १५, १६)

मच्चुणाऽब्भाहओ लोओ, जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय वियाणह ॥९॥

भावार्थ—हे पिताजी! यह लोक मृत्यु से पीड़ित है एवं जरा (बुढ़ापा) से घिरा हुआ है। दिन रात रूप अमोघ शस्त्र हैं जो प्रति क्षण प्राणियों के जीवन का नाश कर रहे हैं।

(उत्तराध्ययन चौदहवा अध्ययन गाथा २३)

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ किस्सन्ति जंतवो ।१९।

भावार्थ—संसार में जन्म का दुःख है, जरा का दुःख है और रोग तथा मृत्यु का दुःख है। अहो! संसार ही दुःख रूप है जहाँ प्राणी क्लेश-दुःख प्राप्त करते हैं। (उत्तराध्ययन उन्नीसवां अ० गाथा १६)

इहलोग दुहावहं विऊ, परलोगे वि दुहं दुहावहं।
विद्धंसण धम्ममेव तं, इइ विज्जं को गारमावसे ।११।

भावार्थ—स्वजन, सम्बन्धी, परिग्रह आदि इसलोक और परलोक में दुःख देने वाले हैं तथा सभी नाशवान् हैं। यह जान कर गृहस्थ में रहना कौन पसन्द करेगा? (सूयगडांग अ० २ उ० २ गाथा १०)

जह जह दोसोवरमो, जह जह विसएसु होइ वेरग्गं।
तह तह वियाणाहि, आसन्नं से पयं परमं ॥१२॥

भावार्थ—ज्यों ज्यों दोष शान्त होते जाते हैं और विषयों में विराग होता जाता है त्यों त्यों आत्मा को परमपद यानी मोक्ष के अधिकाधिक समीप समझो। (मरणसमाधि प्रकीर्णक गाथा ६३१)

३६—प्रमाद

समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

भावार्थ-हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद न करो।

(उत्तराध्ययन दसवां अध्ययन)

मज्जं विसय कसाया, निद्दा विगहा य पंचमी भणिया।
इअ पंचविहो एसो, होइ पमाओ य अपमाओ ॥२॥

भावार्थ-मद्य (नशा), विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पाँच प्रकार के प्रमाद हैं। इनका अभाव रूप अप्रमाद भी पाँच ही प्रकार का है। (उत्तराध्ययन चौथा अ० निर्युक्ति गाथा १८०)

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं।
तब्भावादेसओ वावि, बाले पण्डियमेव वा ॥३॥

भावार्थ-तीर्थङ्कर देव ने प्रमाद को कर्म कहा है और अप्रमाद को कर्म का अभाव बतलाया है अर्थात् प्रमादयुक्त प्रवृत्तियाँ कर्म बन्धन कराने वाली हैं और जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद से रहित हैं वे कर्म बन्धन नहीं करातीं। प्रमाद के होने और न होने से ही मनुष्य क्रमशः मूर्ख और पण्डित कहलाता है। (सूयगडांग अ० ८ गाथा ३)

सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं।

भावार्थ-प्रमादी को चारों ओर से भय ही भय है, अप्रमत्त पुरुष को कहीं से भी भय नहीं है।

(आचारांग तीसरा अध्ययन तीसरा उ० सूत्र १२४)

पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए ॥५॥

भावार्थ-विषय कषाय आदि प्रमाद का सेवन करने वालों

को धर्म से बाहर समझो। अतएव प्रमाद का त्याग कर धर्माचरण में उद्यम करो। (आचारांग पाँचवाँ अ० दूसरा उ० सूत्र १५१)

तं तह दुल्लहलंभं, विज्जुलया चंचलं माणुसत्तं।
लद्धूण जो पमायइ,सो कापुरिसो न सप्पुरिसो।६।

भावार्थ—अति दुर्लभ एवं बिजली के समान चंचल इस मनुष्य-भव को पाकर जो पुरुष प्रमाद करता है वह कापुरुष (कायर) है, सत्पुरुष नहीं। (आवश्यक मलयगिरि पहला अ०)

जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हु दण्डे पवुच्चइ। तं परिण्णाय मेहावी इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं॥ ७॥

भावार्थ—जो मद्यादि प्रमाद का आचरण करता है, शब्दादि गुणों को चाहता है वह हिंसक कहा जाता है। यह जानकर बुद्धिमान् साधु यह निश्चय करे कि प्रमाद वश मैंने जो पहले किया था वह अब मैं नहीं करूँगा। (आचारांग पहला अ० चौथा उ० सूत्र ३५-३६)

अंतरं च खलु इमं संपेहाए, धीरो मुहुत्तमपि णो पमायए। वओ अच्चेइ जोव्वणं च॥ ८॥

भावार्थ—मानव भव, आर्यकुल आदि की प्राप्ति—यही धर्म साधन के लिये उपयुक्त अवसर है। यह जान कर धीर पुरुष मुहूर्त्त मात्र भी प्रमाद न करे। यह वय (अवस्था) और यौवन बीते जा रहे हैं। (आचारांग दूसरा अध्ययन पहला उ० सूत्र ६६)

सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरंति॥ ६॥

भावार्थ—जो लोग सोये हुए हैं वे अमुनि हैं और जो मुनि हैं वे सदा जागते रहते हैं। (आचारांग तीसरा अ० पहला उ० सूत्र १०६)

सुत्तेसु यावि पडिबुद्धजीवी, न विस्ससे पंडिय आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंड पक्खी व चरऽप्पमत्तो॥

भावार्थ-आशुप्रज्ञ पंडित पुरुष को, मोह निद्रा में सोये हुए प्राणियों के बीच रहकर भी सदा जागरूक रहना चाहिये। प्रमादाचरण पर उसे कभी विश्वास न करना चाहिये। काल निर्दय है और शरीर निर्बल है-यह जान कर उसे भारण्ड पक्षी की तरह सदा अप्रमत होकर विचारना चाहिये। (उत्तरा० अ० ४ गाथा ६)

३७—राग द्वेष

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाइमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाइमरणं वयंति॥

भावार्थ-राग और द्वेष कर्म के मूल कारण हैं और कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म जन्म मृत्यु का मूल हेतु है और जन्म मृत्यु को ही दुःख कहा जाता है। (उत्तराध्ययन बत्तीसवां अ० गाथा७)

दवग्गिणा जहा रण्णे, डज्झमाणेसु जंतुसु।
अन्ने सत्ता पमोयंति, रागदोस वसं गया॥२॥
एवमेव वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया।
डज्झमाणं न बुज्झामो, रागदोसग्गिणा जगं॥३॥

भावार्थ-जैसे जंगल में दावाग्नि से प्राणियों के जलने पर दूसरे प्राणी राग द्वेष के वश होकर प्रसन्न होते हैं। (वे बेचारे यह नहीं जानते कि बढती हुई यह दावाग्नि हमें भी भस्म कर देगी और इसलिये हमें इससे बचने का प्रयत्न करना चाहिये।)

इसी प्रकार काम भोगों में मूर्च्छित हम अज्ञानी लोग भी यह नहीं

समझते कि विश्व राग द्वेष रूप अग्नि से जल रहा है और हमें इस अग्नि से बचने का प्रयत्न करना चाहिये।
(उत्तराध्ययन चौदहवा अध्ययन गाथा ४२, ४३)

न वि तं कुणई अमित्तो सुट्ठु वि य विराहिओ समत्थो वि।
जं दो वि अणिग्गहीया, करंति रागो य दोसो य ॥४॥

भावार्थ–समर्थ शत्रु का भी कितना ही विरोध क्यों न किया जाय फिर भी वह आत्मा का उतना अहित नहीं करता जितना कि वश नहीं किये हुए राग द्वेष करते हैं। (मरणसमाधि प्रकीर्णक गाथा १६८)

न काम भोगा समयं उविंति, न यावि भोगा विगइं उविंति
जे तप्पओसीय परिग्गही य, सोतेसु मोहा विगइं उवेइ॥

भावार्थ–कामभोग अपने आप न तो किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं और न किसी में विकार भाव ही उत्पन्न करते हैं। किन्तु जो मनुष्य उनसे राग या द्वेष करता है वही मोह के वश होकर विकारभाव प्राप्त करता है। (उत्तराध्ययन अ० ३२ गाथा १०१)

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धंतमल पावगं।
रागदोस भवातीतं, तं वयं बूम माहणं ॥६॥

भावार्थ--जो कसौटी पर कसे हुए एवं अग्नि में डालकर शुद्ध किये हुए सोने के समान निर्मल है, जो राग, द्वेष तथा भय से रहित है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। (उत्तराध्ययन अ० पचीसवा गाथा २१)

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू,
गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
जो राग दोसेहिं समो स पुज्जो ॥७॥

भावार्थ—जो गुणों को धारण करता है वह साधु है और जो गुणों से रहित है वह असाधु है। अतएव साधु योग्य गुणों को ग्रहण करो एवं दुर्गुणों का त्याग करो। जो आत्मा द्वारा आत्मस्वरूप का जानने वाला तथा राग और द्वेष में समभाव रखने वाला है वही पूजनीय है। (दशवैकालिक नवां अ० तीसरा उ० गाथा ११)

राग दोसे य दो पावे, पाव कम्म पवत्तणे।
जे भिक्खू रु'भइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥८॥

भावार्थ—राग और द्वेष ये दोनों पाप, पाप कार्यों में प्रवृत्ति कराने वाले हैं। जो साधु इन दोनों का निरोध करता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता। (उत्तराध्ययन इकतीसवां अ० गाथा३)

को दुक्खं पाविज्जा, कस्स य सुक्खेहिं विम्हओ हुज्जा।
को वा न लभिज्ज मुक्खं, रागद्दोसा जइ न हुज्जा ॥८॥

भावार्थ—यदि राग द्वेष न हों तो संसार में न कोई दुखी हो और न कोई सुख पाकर ही विस्मित हो बल्कि सभी मुक्त हो जायँ।
(मरणसमाधि प्रकीर्णक गाथा १६७)

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाण मोहस्स य विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥१०॥

भावार्थ—सत्य ज्ञान का प्रकाश करने से, अज्ञान और मोह का त्याग करने से तथा राग और द्वेष का क्षय करने से आत्मा एकान्त सुखमय मोक्ष प्राप्त करता है। (उत्तराध्ययन अ० ३२ गाथा २)

३८—कषाय

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥१॥

भावार्थ–वश नहीं किये हुए क्रोध और मान तथा बढ़ते हुए माया और लोभ–ये चारों कुत्सित कषाय पुनर्जन्म रूपी संसारवृक्ष की जड़ों को हरा भरा रखते हैं अर्थात् संसार को बढ़ाते हैं ।

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो ॥२॥

भावार्थ–जो मनुष्य आत्मा का हित चाहता है उसे चाहिये कि वह पाप बढ़ाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ–इन चार दोषों को सदा के लिये छोड़ दे ।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय नासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥३॥

भावार्थ–क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी सद्गुणों का विनाश करता है। (दशवैकालिक आठवां अ० गाथा ४०,३७,३८)

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
माया गइ पडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥५॥

भावार्थ–क्रोध से आत्मा नीचे गिरता है, मान से अधम गति

प्राप्त होती है, माया से सद्गति का नाश होता है और लोभ से इसलोक तथा परलोक में भय प्राप्त होता है। (उत्तराध्ययन अ० ९ गाथा ५४)

जस्स वि य दुप्पणिहिया,होंति कसाया तवं चरंतस्स ।
सो बाल तवस्सी विव,गयण्हाण परिस्समं कुणइ ॥५॥

भावार्थ—जो तप का आचरण करता है किन्तु कषायों का निरोध नहीं करता वह बाल-तपस्वी है । गजस्नान की तरह उसका तप कर्मों की निर्जरा का नहीं बल्कि अधिक कर्म बन्ध का कारण होता है । (दशवैकालिक आठवां अ० निर्युक्ति गाथा ३००)

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी,
विओसिउं जे उ उदीरएज्जा ।
अंधे व से दंडपहं गहाय,
अविओसिए धासति पावकम्मी ॥६॥

भावार्थ—जो पुरुष क्रोधी है, सर्वत्र दोष ही दोष देखता है और शान्त हुए कलह को पुनः छेड़ता है वह पापात्मा सदा अशान्त रहता है एवं छोटे मार्ग में जाते हुए अन्धे पुरुष की तरह पद पद पर दुखी होता है । (सूयगडांग तेरहवां अध्ययन गाथा ५)

जे यावि चंडे मइ इड्ढिगारवे,
पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे ।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए,
असंविभागी न हु तस्स मुक्खो ॥७॥

भावार्थ—जो साधु क्रोधी होता है, ऋद्धि, रस और साता गारव की इच्छा करता है, चुगली खाता है, बिना विचारे कार्य करता है, गुरुजनों का आज्ञाकारी नहीं होता, धर्म के यथार्थ स्वरूप का

अज्ञान एवं विनयाचरण में अकुशल होता है तथा प्राप्त आहारादि अपने साथी साधुओं को नहीं देता उसे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होता।
(दशवैकालिक नवां अध्ययन दूसरा उद्देशा गाथा २२)

तयसं व जहाइ से रयं, इति संखाय मुणी ण मज्जइ ।
गोयन्नतरेण माहणे, अह सेयकरी अन्नेसि इंखिणी ॥८॥

भावार्थ–जैसे सर्प अपनी काँचली छोड़ देता है। इसी प्रकार मुनि आत्मा के साथ लगी हुई कर्म रज दूर करता है। कषाय का त्याग करने से कर्म रज दूर होती है यह जानकर वह गोत्रादि किसी का मद नहीं करता दूसरों की निन्दा अकल्याण करने वाली है इसलिये वह उसका भी त्याग करता है।

जे परिभवइ परं जणे, संसारे परिवत्तई महं ।
अदु इंखणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी न मज्जइ ।९।

भावार्थ–जो व्यक्ति दूसरे की अवज्ञा करता है वह चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। पर-निन्दा भी आत्मा को नीचे गिराने वाली है। यह जान कर मुनि जाति कुल, श्रुत, तप आदि किसी का मद नहीं करता। (सूयगडांग अ० २ उ० २ गाथा १,२)

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे ।
सुअलाभे न मज्जिज्जा, जच्चा तवस्सि बुद्धिए ।१०।

भावार्थ–साधु को चाहिये कि दूसरे का पराभव (अपमान) न करे, अपने को बड़ा न समझे और शास्त्रों का ज्ञान सीख कर अभिमान न करे। इसी प्रकार उसे जाति, तप, बुद्धि आदि का अहंकार भी न करना चाहिये। (दशवैकालिक आठवां अ० गाथा ३०)

पन्नामयं चेव तवोमयं च, निन्नामए गोयमयं च भिक्खू ।

आजीवगं चेव चउत्थ माहु, से पंडिए उत्तमपोग्गले से ।।

भावार्थ--साधु को बुद्धि का मद, तप का मद, गोत्र का मद और चौथा अर्थ का मद न करना चाहिये । जो इन मदों का त्याग करता है वही पण्डित है और वही सभी से बड़ा है ।

मयाइं एयाइं विगिंच धीरा, न ताणि सेवन्ति सुधीरधम्मा ।
सव्वगोत्तावगया महेसी,उच्चं अगोत्तं च गइं वयंति ।१२।

भावार्थ-साधक को बुद्धि आदि सभी का मद छोड़ देना चाहिए। ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्पन्न महात्मा इन मदों का सेवन नहीं करते । सभी गोत्रों से रहित होकर वे महर्षि गोत्र रहित उत्तम गति यानी मोक्ष प्राप्त करते हैं । सूयगडांग तेरहवां अ० गाथा १५,१६)

जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता,
संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा ।
तवेण वाहं सहिउत्ति मत्ता,
अण्णं जणं पस्सति विंबभूयं ।।१३।।

भावार्थ--परमार्थ की परीक्षा किये बिना ही जो तुच्छप्रकृति अपने आपको संयमवन्त, ज्ञानवन्त एवं तपस्वी मानता है और अभिमानवश दूसरे लोगों को बिम्ब रूप अर्थात् परछाइँ की तरह नकली समझता है ।

एगंत कूडेण उ से पलेइ, ण विज्जती मोणपयंमि गोत्ते।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा,वसुमन्नतरेण अबुज्झमाणे ।।

भावार्थ- वह एकान्तरूप से मोहपाश में फँसकर संसार में परिभ्रमण करता है और सर्वज्ञोपदिष्ट मुनिपद का अनुयायी नहीं है । सत्कार सन्मान आदि पाकर जो गर्व करता है तथा संयम

और ज्ञानादि का मद करता है वह सभी शास्त्र पढ़कर भी वस्तुतः सर्वज्ञ के मत को नहीं जानता। (सूयगडाग तेरहवां अ० गाथा ८, ९)

आयारपण्णत्तिधरं, दिट्ठिवायमहिज्जगं।
वायाविक्खलियं नच्चा, न तं उवहसे मुणी ॥१५॥

भावार्थ--आचार प्रज्ञप्ति का जानकार एवं दृष्टिवाद सीखा हुआ विद्वान् साधु भी यदि बोलते हुए स्खलित हो जाय अर्थात् चूक जाय तो मुनि को उसका उपहास (हंसी) न करना चाहिये।
(दशवैकालिक आठवा अध्ययन गाथा ५०)

नो छायए नो वि य लूसएज्जा,
माणं न सेवेज्ज पगासणं च।
न यावि पण्णे परिहास कुज्जा,
ण यासियावाय वियागरेज्जा ॥१६॥

भावार्थ--व्याख्याता साधु को चाहिये कि वह कैसी भी परिस्थिति में सूत्र और अर्थ न छिपावे और अपसिद्धान्त (असत्य सिद्धान्त) का आश्रय लेकर शास्त्र का व्याख्यान न करे। उसे अपनी विद्वत्ता का अभिमान न होना चाहिये और न उसे अपने आपको जनता में बहुश्रुत या तपस्वी के नाम से प्रकाशित ही करना चाहिये। बुद्धिमान् साधु को किसी की मजाक न करनी चाहिये। उसे किसी को 'पुत्रवान् हो, धनवान् हो' इस प्रकार आशीर्वचन भी न कहना चाहिये। (सूयगडाग चौदहवां अ० गाथा १९)

जइ यि य णिगणे किसे चरे, जइ वि य भुंजिय मासमन्तसो
जे इह मायाइ मिज्जई, आगन्ता गब्भा य णन्तसो ॥१७॥

भावार्थ--जो पुरुष मायादि कषायों से युक्त है वह चाहे नग्न

रहे, शरीर को कृश कर डाले और महीने महीने की तपस्या करे फिर भी उसे अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा।

जे यावि बहुस्सुए सिया,धम्मिय माहण भिक्खुए सिया।
अभिणूम कडेहि मुच्छिए, तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चई ॥१८॥

भावार्थ–जो लोग मायाप्रधान अनुष्ठानों में आसक्त हैं वे, चाहें बहुश्रुत हों, धार्मिक हों, ब्राह्मण हों या भिक्षुक हों, कर्मों द्वारा अत्यन्त पीड़ित किये जाते हैं।

(सूयगडांग दूसरा अध्ययन पहला उद्देशा गाथा ६, ७)

छन्नं च पसंस णो करे, न य उक्कोस पगास माहणे।
तेसिं सुविवेगमाहिए, पणया जेहि सुजोसियं धुवं ।१६।

भावार्थ–साधक को चाहिये कि वह माया, लोभ, अभिमान और क्रोध का त्याग करे। जिन्होंने इन कषायों का त्याग किया है और संयम का सेवन किया है वे ही धर्म के सन्मुख हैं।

(सूयगडांग दूसरा अध्ययन दूसरा उ० गाथा २६)

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय सील तवो जलं।
सुयधाराभिहया सन्ता,भिन्ना हु न डहन्ति मे ॥२०॥

भावार्थ–तीर्थङ्कर देव ने, निरन्तर आत्मा को जलाने वाले कषायों को अग्नि रूप कहा है और इसे शान्त करने के लिये उन्होंने श्रुत, शील और तप रूप जल बतलाया है। इस जल की धारा से शान्त किये हुए ये कषाय मुझे नहीं जला पाते।

(उत्तराध्ययन तेईसवां अध्ययन गाथा ५३)

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जव भावेणं, लोभं संतोसओ जिणे ॥२१॥

भावार्थ—उपशम द्वारा क्रोध का नाश करे, मृदुता (नम्रता) से अभिमान को जीते, सरलता से माया को वश करे एवं सन्तोष द्वारा लोभ पर विजय प्राप्त करे। (दशवैकालिक आठवा अ० गाथा ३९)

कोहं च माणं च तहेव मायं,लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एआणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वइ पाव ण कारवेइ।२२।

भावार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारों अन्तरात्मा को दूषित करने वाले हैं। इनका पूर्ण रूप से त्याग करने वाले अर्हन्त महर्षि न स्वयं पाप करते हैं न दूसरों से ही करवाते हैं।
(सूयगडांग छठा अध्ययन गाथा २६)

पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि य।
धूणादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥२३॥

भावार्थ—माया,लोभ,क्रोध और मान—ये चारों कर्मबन्ध के कारण हैं। ऐसा जानकर विद्वान् मुनि को इनका त्याग करना चाहिये। (सूयगडांग नवां अध्ययन गाथा ११)

३९—तृष्णा

जहा य अण्डप्पभवा बलागा,अण्डं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,मोहं च तण्हाययणं वयंति॥

भावार्थ—जैसे बलाका पक्षी अंडे से उत्पन्न होता है और अंडा बलाका पक्षी से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार मोह से तृष्णा और तृष्णा से मोह का उत्पन्न होना कहा जाता है।

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।

तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥२॥

भावार्थ-जिसके मोह नहीं है उसका दुःख नष्ट हो गया। जिसके तृष्णा नहीं है उसके मोह का नाश हो गया। जिसके लोभ नहीं है उसके तृष्णा भी नहीं रही और जिसके पास कुछ नहीं है उसका लोभ भी नष्ट हो गया। (उत्तराध्ययन बत्तीसवां अध्ययन गाथा ८)

कसिणं पि जो इमं लोगं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥ ३ ॥

भावार्थ-धन, धान्य, सोना चाँदी आदि समस्त पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि एक मनुष्य को दे दिया जाय तब भी वह सन्तुष्ट नहीं होगा। इस प्रकार आत्मा की इच्छा का पूर्ण होना बड़ा कठिन है।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥ ४ ॥

भावार्थ-ज्यों ज्यों लाभ होता जाता है त्यों त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है। लाभ ही लोभ वृद्धि का कारण है। दो मासे सोने से होने वाला कपिल मुनि का कार्य लोभवश करोड़ों से भी पूरा न हो सका। (उत्तराध्ययन आठवां अ० गाथा १६, १७)

सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥५॥

भावार्थ-यदि सारा संसार और सभी धन तुम्हारा हो जाय फिर भी वह तुम्हारे लिये अपर्याप्त ही रहेगा और उससे भी तुम्हारी रक्षा न हो सकेगी। (उत्तराध्ययन चौदहवां अध्ययन गाथा ३६)

सुवण्ण रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
णरस्स लुद्धस्स ण तेहिं किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥६।

भावार्थ—कैलाश पर्वत के समान सोने चाँदी के असंख्यात पर्वत भी हों तो भी लोभी मनुष्य का मन नहीं भरता । सच है, आकाश की तरह इच्छा का भी अन्त नहीं है ।

पुढ्वी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥७॥

भावार्थ शालि, जव आदि धान्य, सोना, चाँदी आदि धन तथा पशुओं से परिपूर्ण यह सारी पृथ्वी एक मनुष्य की इच्छा तृप्त करने के लिये भी पर्याप्त (पूरी) नहीं है । यह जान कर तप ही का आचरण करना चाहिये । (उत्तराध्ययन नवां अ० गाथा ४८, ४६)

४०—शल्य

रागद्दोसाभिहया, ससल्लमरणं मरंति जे मूढ़ा ।
ते दुक्ख सल्ल बहुला, भमंति संसार कांतारे ॥१॥

भावार्थ--राग द्वेष से अभिभूत जो मूढ़ प्राणी शल्य सहित मरते हैं वे विविध दुःख रूप शल्यों से पीड़ित होकर संसार रूप अटवी में परिभ्रमण करते हैं । (मरणसमाधि प्रकीर्णक गाथा ५१)

सुहुंमंपि भावसल्लं, अणुद्धरित्ता उ जे कुणइ कालं ।
लज्जाइ गारवेण य, न हु सो आराहओ भणिओ ॥२॥

भावार्थ--लज्जा अथवा गारव के कारण जो सूक्ष्म भी भाव

शल्य की शुद्धि नहीं करता और शल्य सहित ही काल कर जाता है उसे आराधक नहीं कहा है। (मरणसमाधि प्रकीर्णक गाथा ६८)

ससल्लो जइ वि कट्ठुग्गं, घोरवीरं तवं चरे।
दिव्वं वाससहस्सं पि,ततो वि तं तस्स निष्फलं।३।

भावार्थ--शल्य वाला आत्मा चाहे देवता के हजार वर्ष तक भी वीरता पूर्वक घोर उग्र तप का आचरण करे पर शल्य के कारण उसे उसका कोई फल नहीं होता। (महानिशीथ १ अ०)

तं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फल विवागे भवति जं नो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए ॥ ४ ॥

भावार्थ--हे आयुष्मन् श्रमण ! उस निदान (नियाणे) का यह पाप रूप फल होता है कि आत्मा सर्वज्ञभाषित धर्म भी नहीं सुन सकता। (दशाश्रुतस्कन्ध दसवीं दशा (प्रथम निदान)

हत्थिणपुरम्मि चित्ता, दट्ठूणं नरवइं महिड्ढियं।
कामभोगेसु गिद्धेणं, नियाण मसुहं कडं ॥५॥
तस्स मे अपडिक्कंतस्स, इमं एयारिसं फलं।
जाणमाणो वि जं धम्मं, काम भोगेसु मुच्छिओ।६।

भावार्थ--हे चित्त मुने ! हस्तिनापुर में महाऋद्धि सम्पन्न नृपति (सनत्कुमार नामक चौथे चक्रवर्ती) को देखकर, मैंने कामभोग में अत्यन्त आसक्त हो, उस ऋद्धि की प्राप्ति के लिये अशुभ निदान किया था।

उस निदान का मैंने प्रतिक्रमण नहीं किया। उसी का यह फल है कि धर्म का स्वरूप समझते हुए भी मैं कामभोगों में गृद्ध हो रहा हूँ। (उत्तराध्ययन तेरहवां अध्ययन गाथा २८, २९)

अवगणिय जो मुक्खसुहं, कुणइ निआणं असारसुह हेउं।
सो कायमणि कएणं, वेरुलियमणिं पणासेइ ॥७॥

भावार्थ--जो मोक्ष सुख की अवगणना कर संसार के असार सुखों के लिये निदान करता है वह काच के टुकड़े के लिये वैडूर्य मणि को हाथ से खो बैठता है। (भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक गाथा १३८)

जं कुणइ भावसल्लं, अणुद्धियं उत्तमट्ठकालम्मि।
दुल्लह बोहीयत्तं, अणंत संसारियत्तं च ॥८॥
तो उद्धरंति गारव रहिया, मूलं पुणब्भवलयाणं।
मिच्छा दंसण सल्लं, माया सल्लं नियाणं च ॥९॥

भावार्थ - अन्तिम आराधना काल में यदि भावशल्य की शुद्धि न की जाय तो वह शल्य आत्मा का बड़ा ही अहित करता है। इसके फल स्वरूप आत्मा को बोधि (सम्यक्त्व) दुर्लभ हो जाती है एवं उसे अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

अतएव आत्मार्थी पुरुष गारव का त्याग कर, भवलता के मूल समान मिथ्यादर्शन, माया एवं निदान रूप शल्य की शुद्धि करते हैं।
(मरणसमाधि प्रकीर्णक गाथा १११, ११२)

४१—आलोचना

कयपावोऽवि मणूसो, आलोइय निंदिउ गुरुसगासे।
होइ अइरेग लहुओ, ओहरिय भरोव्व भारवहो ॥ १ ॥

भावार्थ--जैसे भारवाही भार उतार कर अत्यन्त हल्कापन अनुभव करता है इसी प्रकार पापी मनुष्य भी गुरु के समीप अपने दुष्कृत्यों की आलोचना निन्दा कर पाप से हल्का हो जाता है।

जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोएज्जा, मायामय विप्पमुक्को य ॥२॥

भावार्थ—जैसे बालक बोलते हुए सरल भाव से कार्य अकार्य सभी कुछ कह देता है। उसी प्रकार आत्मार्थी पुरुष को भी माया एवं अभिमान का त्याग कर सरलभाव से अपने दोषों की आलोचना करनी चाहिये।

जह सुकुसलोऽवि विज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहिं।
तं तह आलोयव्वं, सुट्ठुवि ववहारकुसलेणं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे बहुत कुशल भी वैद्य अपना रोग दूसरे वैद्य से कहता है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त विधि में निपुण व्यक्ति को भी अपने दोषों की आलोचना दूसरे योग्य व्यक्ति के सम्मुख करनी चाहिये।

जं पुव्वं तं पुव्वं, जहाणुपुव्विं जहक्कमं सव्वं।
आलोइज्ज सुविहिओ, कमकालविहिं अभिंदंतो ॥४॥

भावार्थ—श्रेष्ठ आचार वाले पुरुष को क्रम और काल विधि का भेदन न करते हुए लगे हुए दोषों की क्रमशः आलोचना करनी चाहिये। जो दोष पहले लगा हो उसकी आलोचना पहले और इसके बाद के दोषों की आलोचना बाद में इस प्रकार आनुपूर्वी से आलोचना करनी चाहिये।

लज्जाइ गारवेण य, जे नालोयंति गुरुसगासम्मि।
धंतं पि सुयसमिद्धा, न हु ते आराहगा हुंति ॥५॥

भावार्थ—जो लज्जावश अथवा गर्व के कारण गुरु के समीप अपने दोषों की आलोचना नहीं करते, वे श्रुत से अतिशय समृद्ध होते हुए भी आराधक नहीं हैं।

(मरणसमाधि प्रकीर्णक गाथा १०२, १०१, १०४, १०५, १०३)

भिक्खू य अण्णयरं अकिच्चठाणं पडिसेवित्ता सेणं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ, णत्थि तस्स आराहणा। से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा ॥६॥

भावार्थ–साधु यदि किसी अकृत्य का सेवन कर उसकी आलोचना प्रतिक्रमण किये बिना काल करे तो उसके आराधना नहीं होती। यदि वह उस अकृत्य की आलोचना प्रतिक्रमण करके काल करे तो उसके आराधना होती है।

(भगवती दसवां शतक दूसरा उद्देशा)

एवं उवट्ठियस्सवि, आलोएउं विसुद्धभावस्स।
जं किंचि वि विस्सरियं,सहसक्कारेण वा चुक्कं ॥७॥
आराहओ तहवि सो, गारवपरिकुंचणामयविहूणो।
जिणदेसियस्स धीरो, सद्दहगो मुत्तिमग्गस्स ॥८॥

भावार्थ–शुद्ध भावपूर्वक आलोचना के लिये उपस्थित हुआ व्यक्ति आलोचना करते हुए यदि स्मरणशक्ति की कमजोरी के कारण अथवा उतावली में किसी दोष की आलोचना करना भूल जाय। फिर भी माया, मद एवं गारव से रहित वह धैर्यशाली पुरुष आराधक है एवं जिनोपदिष्ट मुक्ति मार्ग का श्रद्धावान् है।

(मरणसमाधि प्रकीर्णक गाथा १२१,१२२)

४२—आत्म-चिन्तन

जो पुव्वरत्तावरत्तकाले, संपिक्खए अप्पगमप्पएण।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं,किं सक्कणिज्जं न समायरामि

भावार्थ–साधक को चाहिये कि वह रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम

प्रहर में स्वयं अपनी आत्मा का निरीक्षण करे और विचारे कि मैंने कौन से कर्त्तव्य कार्य किये हैं, कौन से कार्य करना अवशेष हैं और क्या क्या शक्य अनुष्ठानों का मैं आचरण नहीं कर रहा हूँ?

किं मे परो पासइ किं च अप्पा,
किं चाहं खलियं न विवज्जयामि ।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो,
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥२॥

भावार्थ-दूसरे लोग मुझ में क्या दोष देख रहे हैं, मुझे अपने आप में क्या दोष दिखाई देते हैं, क्या मैं इन दोषों को नहीं छोड़ रहा हूँ? इस प्रकार सम्यक् रीति से अपने दोषों को देखने वाला मुनि भविष्य में ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता जिससे कि संयम में बाधा पहुँचे ।

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं,
काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा,
आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥३॥

भावार्थ-धीर मुनि जब कभी आत्मा को मन वचन काया सम्बन्धी दुष्ट व्यापारों में लगा हुआ देखे कि उसी समय उसे शास्त्रोक्त विधि से आत्मा को दुष्ट व्यापार से हटाकर संयम व्यापार में लगाना चाहिये। जैसे आकीर्णक जाति का घोड़ा लगाम के नियन्त्रण में रहकर सन्मार्ग में चलता है। इसी प्रकार उसे भी शास्त्र विधि के अनुसार आत्मा को संयम मार्ग पर लाना चाहिये।

(दशवैकालिक दूसरी चूलिका गाथा १२, १३, १४)

भावणा जोग सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
णावा व तीरसंपन्ना, सव्व दुक्खा तिउट्टइ ॥४॥

भावार्थ-जो आत्मा पवित्र भावनाओं से शुद्ध है वह जल पर रही हुई नौका के समान है । वह आत्मा नौका की तरह संसार रूप समुद्र के तट पर पहुँच कर सभी दुःखों से छूट जाता है ।

(सूयगडांग पन्द्रहवां अध्ययन गाथा ५)

४३—क्षमापना

पुढवी दग अगणि मारुय, एक्केक्के सत्त जोणि लक्खाओ ।
वण पत्तेय अणंते, दस चउदस जोणि लक्खाओ ॥१॥
विगलिंदिएसु दो दो, चउरो चउरो य नारय सुरेसुं ।
तिरिएसु होंति चउरो, चउदस लक्खा उ मणुएसु ॥२॥

भावार्थ-पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु-प्रत्येक की सात सात लाख योनि हैं । प्रत्येक वनस्पति की दस लाख और अनन्त काय अर्थात् साधारण वनस्पति काय की चौदह लाख योनि हैं ।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय-इन तीनों विकलेन्द्रियों में से प्रत्येक की दो दो लाख योनि हैं । नारकी और देवता की तथा तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय की चार चार लाख योनि हैं । मनुष्य की चौदह लाख योनि हैं । इस प्रकार कुल चौरासी लाख योनि हैं ।

(प्रवचनसारोद्धार गाथा ६६८, ६६९)

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ॥३॥

भावार्थ-उपरोक्त चौरासी लाख योनि के सभी जीवों से मैं क्षमा चाहता हूँ । सभी जीव मुझे क्षमा करें । मेरा सभी प्राणियों

के साथ मैत्री भाव है। किसी के भी साथ मेरा वैर भाव नहीं है।

(आवश्यक सूत्र)

जं जं मणेण बद्धं, जं जं वायाए भासिअं पावं।
जं जं काएण कयं, मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥४॥

भावार्थ--मन, वचन और शरीर से मैंने जो पाप किये हैं मेरे वे सब पाप मिथ्या हों।

आयरिए उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल गणे अ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ ५ ॥

भावार्थ--आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल और गण के प्रति मैंने जो क्रोधादि कषायपूर्वक व्यवहार किया है उसके लिये मैं मन वचन और काया से क्षमा चाहता हूँ।

सव्वस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलिं करीअ सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥ ६ ॥

भावार्थ--मैं नतमस्तक हो, हाथ जोड़कर पूज्य श्रमण संघ से सभी अपराधों के लिये क्षमा चाहता हूँ और उनके अपराध भी मैं क्षमा करता हूं।

(मरणसमाधिप्रकीर्णक गाथा ३३५,३३६) (संस्तारक प्रकीर्णक गाथा १०४,१०५)

सव्वस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्म निहिअ निअचित्तो।
सव्वे खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥ ७ ॥

भावार्थ--धर्म में स्थिर बुद्धि होकर मैं सद्भावपूर्वक सब जीवों से अपने अपराधों के लिये क्षमा माँगता हूँ और उनके सब अपराधों को मैं भी सद्भावपूर्वक क्षमा करता हूँ।

(संस्तारक प्रकीर्णक गाथा १०६)

रागेण व दोसेण व, अहवा अकयन्नूणा पडिनिवेसेणं ।
जो मे किंचि वि भणियो, तमहं तिविहेण खामेमि ॥८॥

भावार्थ--राग द्वेष, अकृतज्ञता अथवा आग्रहवश मैंने जो कुछ भी कहा है उसके लिये मैं मन वचन काया से सभी से क्षमा चाहता हूँ।

(मरणसमाधि प्रकीर्णक गाथा २१४)

नोट --तयालीसवें बोल में सूत्र की गाथाएं हैं पाठक को ये गाथाएं बत्तीस अस्वाध्याय टालकर पढना चाहिये । इसी ग्रन्थ में बोल नम्बर ६६८ में बत्तीस अस्वाध्याय दिये गये हैं ।

चँवालीसवाँ बोल

६६५--स्थावर जीवों की अवगाहना के अल्पबहुत्व के चँवालीस बोल

पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और निगोद इनके सूक्ष्म बादर के भेद से दस भेद होते हैं। प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकाय ग्यारहवां भेद है। पर्याप्त अपर्याप्त के भेद से इन (स्थावरों) के बाईस भेद होते हैं। इन जीवों में प्रत्येक की जघन्य और उत्कृष्ट दो तरह की अवगाहना होती है। इस प्रकार स्थावर जीवों की अवगाहना के ४४ बोल हो जाते हैं। इनका अल्पबहुत्व इस प्रकार है।

(१ अपर्याप्तसूक्ष्म निगोद की जघन्य वअगाहना सबसे कम है।

(२) उससे अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है। (३) उससे अपर्याप्त सूक्ष्म अग्निकाय की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है। (४) उससे अपर्याप्त सूक्ष्म अप्काय की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है। (५) उससे अपर्याप्तसूक्ष्म पृथ्वीकाय की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी

है। (६) उससे अपर्याप्त बादर वायुकाय की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है। (७) उससे अपर्याप्त बादर अग्निकाय की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है। (८) उससे अपर्याप्त बादर अप्काय की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है। (९) उससे अपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है। (१०-११) प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकाय तथा बादर निगोद के अपर्याप्त की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यात गुणी और दोनों की परस्पर तुल्य है। (१२) पर्याप्त सूक्ष्म निगोद की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यात गुणी है। (१३) अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेषाधिक है। (१४) पर्याप्त सूक्ष्म निगोद की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेषाधिक है। (१५) पर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यात गुणी है। (१६) अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय की उत्कृष्ट अवगाहना विशेषाधिक है। (१७) पर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय की उत्कृष्ट अवगाहना विशेषाधिक है। (१८-२०) पर्याप्त सूक्ष्म अग्निकाय की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है। अपर्याप्त सूक्ष्म अग्निकाय की उत्कृष्ट अवगाहना विशेषाधिक है और उससे भी पर्याप्त सूक्ष्म अग्निकाय की उत्कृष्ट अवगाहना विशेषाधिक है। (२१-२३) पर्याप्त सूक्ष्म अप्काय की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी और अपर्याप्त सूक्ष्म अप्काय तथा पर्याप्त सूक्ष्म अप्काय की उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर विशेषाधिक है। (२४-२६) पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी एवं अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर विशेषाधिक है। (२७-२९) पर्याप्त बादर वायुकाय की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी तथा अपर्याप्त और पर्याप्त बादर वायुकाय की उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर विशेषाधिक है।

(३०-३२) पर्याप्त बादर अग्निकाय की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यात गुणी तथा अपर्याप्त और पर्याप्त बादर अग्निकाय की उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर विशेषाधिक है। (३३-३५) पर्याप्त बादर अप्काय की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यातगुणी तथा अपर्याप्त और पर्याप्त बादर अप्काय की उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर विशेषाधिक है। (३६-३८) पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी तथा अपर्याप्त और पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय की अवगाहना उत्तरोत्तर विशेषाधिक है। (३९) पर्याप्त बादर निगोद की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। (४०) अपर्याप्त बादर निगोद की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेषाधिक है। (४१) पर्याप्त बादर निगोद की अवगाहना उससे विशेषाधिक है। (४२) पर्याप्त प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकाय की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है। (४३) अपर्याप्त प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यात गुणी है। (४४) पर्याप्त प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यात गुणी है। (भगवती शतक १९ उ० ३)

पैंतालीसवाँ बोल संग्रह

९९६–उत्तराध्ययन सूत्र के पच्चीसवें अध्ययन की पैंतालीस गाथाएं

-बनारस नगरी में काश्यपगोत्र के जयघोष विजयघोष नाम वाले दो भाई थे। दोनों एक साथ में उत्पन्न हुए थे। इनमें आपस में अत्यधिक प्रेम था। ये वेदों के पारगामी और आगमों में कुशल थे और धन धान्यादि से सुखी थे। दोनों भाई यजन, याजन अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह रूप छः कर्मों का आचरण

करते हुए आनन्द पूर्वक जीवन बिताते थे। एक बार जयघोष गंगास्नान के लिये जा रहा था। रास्ते में उसने देखा कि साँप ने मेंढक पकड़ रखा है और उसी साँप को कुलल पक्षी पकड़े हुए है। साँप तड़फ रहा था और कुलल पक्षी उसे खा रहा था इस अवस्था में भी साँप मेंढक को छोड़ नहीं रहा था पर चीं चीं करते हुए मेंढक को खा रहा था। इस प्रकार एक दूसरे की घात करते हुए उन्हें देखकर जयघोष को प्रतिबोध हो गया। लौट कर वह साधुओं के स्थान पर गया और धन धान्य स्त्री पुत्र को छोड़ कर उसने दीक्षा धारण कर ली।

एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते हुए जयघोष मुनि बनारस में आये। मासखमण के पारणे के दिन वे अपने भाई की यज्ञशाला में भिक्षा के लिये गये। भिक्षा के लिये इन्कार कर देने पर मुनि ने विजयघोष और अन्य ब्राह्मणों को प्रतिबोध देने की इच्छा से,कुछ प्रश्न रखे। विजयघोष ने अपने को असमर्थ पाकर मुनि से ही उनका उत्तर देने के लिये प्रार्थना की। इस पर मुनि ने उनका समाधान करते हुए ब्राह्मणत्व का यथार्थ स्वरूप बतलाया एवं वर्ण-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए भाई को भोगों का त्याग करने का उपदेश दिया। मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर विजयघोष ने दीक्षा धारण की तप द्वारा कर्मों का नाश कर अन्त में दोनों भाई मुक्त हुए।

(१) ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए एक महायशस्वी विप्र थे। वे महाव्रत रूप भाव यज्ञ के करने वाले थे। उनका नाम जयघोष था।

(२) इन्द्रियों के निग्रह कर्त्ता, मोक्ष मार्ग के पथिक महामुनि श्री जयघोष ग्रामानुग्राम विहार करते हुए बनारस नगरी में आये।

(३) बनारस के बाहर मनोरम नामक उद्यान था। मुनि ने आज्ञा माँग कर प्रासुक शय्या संस्तारक वाले उस उद्यान में निवास किया।

(४) उस समय उस नगरी में वेदों का जानकार विजय-घोष नाम वाला ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था।

(५) महामुनि जयघोष मासखमण तप के पारणे के दिन भिक्षा के लिए वहाँ विजयघोष की यज्ञशाला में उपस्थित हुए।

(६) यज्ञशाला में आये हुए उस मुनि को देखकर यज्ञकर्त्ता ने यह कह कर इन्कार कर दिया कि हे भिक्षु! मैं तुम्हें भिक्षा नहीं दूँगा, कहीं और जगह याचना करो।

(७-८) जो ब्राह्मण वेदों के ज्ञाता हैं, यज्ञार्थी हैं, जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष-ये छः अंग जानने वाले हैं तथा धर्मशास्त्रों के पारगामी हैं, जो अपने तथा दूसरे आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं, यह षट्रस वाला उत्तम भोजन ऐसे ब्राह्मणों को देने के लिये है।

(९) यज्ञशाला में यज्ञकर्त्ता द्वारा इस प्रकार भिक्षा देने से इन्कार कर देने पर, मोक्षरूप परम अर्थ की गवेषणा करने वाले महामुनि न रुष्ट हुए, न प्रसन्न ही। किन्तु उन्होंने समभाव रखा।

(१०) अन्न, पानी अथवा निर्वाह के लिये नहीं किन्तु यज्ञ करने वालों का अज्ञान दूर कर उनकी मुक्ति के लिये मुनि ने ये वचन कहे।

(११) तुम वेदों का मुख नहीं जानते हो। यज्ञों का मुख, नक्षत्रों का मुख और धर्मों का मुख भी तुम नहीं जानते।

(१२) तुम यह भी नहीं जानते कि अपने और दूसरे आत्मा का उद्धार करने में वस्तुतः कौन समर्थ हैं? यदि तुम यह सभी जानते हो तो बतलाओ।

(१३) इन प्रश्नों का उत्तर देने में अपने को असमर्थ देख यज्ञ-कर्त्ता ने सपरिषद् हाथ जोड़ कर महामुनि से यह निवेदन किया।

(१४) हे महामुने! वेद, यज्ञ, नक्षत्र और धर्मों का मुख अनुग्रह करके आप ही बतलाइये।

(१५) कृपया यह भी कहिये कि अपने और दूसरे आत्मा का उद्धार करने में कौन समर्थ है ? हमारा मन इन विषयों में शंकाशील है। कृपया आप ही इन संशयों का समाधान कीजिए।

(१६) वेदों का मुख अग्निहोत्र है। धर्मध्यान रूप अग्नि में सद्भावना की आहुति देकर कर्म रूप इन्धन का जलाना अग्निहोत्र है। अशुभ कर्मों का नाश करने के लिये भाव यज्ञ करने वाला यज्ञार्थी ही यज्ञों का मुख है। नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है। यही नक्षत्रों का राजा है। धर्मों के मुख रूप अर्थात् कारण काश्यपगोत्रीय भगवान् श्री ऋषभदेव हैं क्योंकि युग की आदि में धर्म की प्ररूपणा आपने ही की थी।

(१७) जैसे ग्रह नक्षत्र आदि चन्द्रमा के सन्मुख हाथ जोड़कर स्तुति नमस्कार करते हुए अति विनम्र भाव से खड़े रहते हैं। इसी प्रकार इन्द्र चक्रवर्ती आदि सभी देव और मनुष्य भगवान् ऋषभदेव को विनम्रभाव से नमस्कार करते हैं।

(१८) यज्ञवादी लोग, जिन्हें तुम पात्र समझते हो, ब्रह्मविद्या रूप ब्राह्मणों की सम्पत्ति को नहीं जानते, अन्यथा ये लोग ऐसा यज्ञ क्यों करते ? स्वाध्याय और तप के विषय में भी लोग मूढ़ अज्ञानी हैं। ये राख से दबी हुई आग के समान हैं। ऊपर से ये शान्त दिखाई देते हैं किन्तु इनका हृदय कषायों से जल रहा है।

(१९) तत्त्वज्ञों ने जिसे ब्राह्मण कहा है वह पुरुष लोक में अग्नि की तरह सदा पूजित होता है। तत्त्वज्ञों द्वारा कथित उस ब्राह्मण का स्वरूप हम तुम्हें बतलाते हैं।

(२०) जो स्वजनादि में आसक्त नहीं होता तथा उन्हें प्राप्त करने के लिये उतावला नहीं होता, उन्हें छोड़ कर दूसरी जगह जाते समय भी जिसे यह चिन्ता नहीं होती कि इनके बिना मैं कैसे रहूँगा किन्तु उनसे निस्पृह बन कर जो तीर्थङ्कर देव के वचनों में आनन्दित

रहता है उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२१) पाप मल का नाश कर जो आग में तपे हुए सुवर्ण की तरह शुद्ध एवं निर्मल हो गया है, मोक्ष रूप महान् अर्थ ही जिसका एक मात्र ध्येय है तथा जो राग द्वेष और भय से परे है उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२२) उग्र तप का आचरण कर जिसने अपना शरीर कृश कर दिया है, रक्त और मांस सूखा डाले हैं, जिसने पांचों इन्द्रियां दमन कर रखी हैं तथा कषायों को शान्त कर जो शोभन व्रत वाला है उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२३) त्रस स्थावर प्राणियों का विशद स्वरूप जानकर जो मन वचन काया से उनकी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२४) क्रोध, लोभ, भय और हास्य के वश हो जो कभी मृषा भाषण नहीं करता उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२५) जो सचित्त और अचित्त पदार्थों को थोड़ी या अधिक मात्रा (अथवा संख्या) में, स्वामी से बिना दिये ग्रहण नहीं करता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२६) जो मन वचन काया द्वारा देव मनुष्य अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी कुशील का सेवन नहीं करता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२७) कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से निर्लिप्त रहता है उसी प्रकार जो कामभोगों से निर्लिप्त है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८) जो रस लोलुपता का त्याग कर निर्दोष भिक्षा द्वारा शरीर निर्वाह करता है, गृहस्थों से संसर्ग नहीं रखता तथा घर रहित और परिग्रह का त्यागी है उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२६) जो पूर्वसंयोग (माता पिता आदि के सम्बन्ध) का त्याग करता है, ज्ञातिजन तथा बान्धवों से मोह हटाता है तथा भोगों में आसक्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(३०) पशुवध का विधान करने वाले शास्त्र तथा पापकर्मकारी हिंसक यज्ञ, हिंसादि कुकृत्यों में प्रवृत्ति करने वाले शील रहित पुरुष की दुर्गति से रक्षा नहीं कर सकते। कर्म बड़े बलवान् होते हैं, वे अपना फल दिये विना नहीं रहते।

(३१) मस्तक मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता और ॐकार का उच्चारण करने से न कोई ब्राह्मण ही होता है। आरण्य में निवास करने से कोई मुनि नहीं बन जाता और न वृक्षों की छाल पहनने से तापस ही होता है।

(३२) समताभाव धारण करने वाला श्रमण होता है और ब्रह्मचर्य की आराधना करने वाला ब्राह्मण होता है। ज्ञान की आराधना करने से मुनि और तप का सेवन करने से तापस होता है।

(३३) मनुष्य जन्म से नहीं किन्तु कर्म से ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय होता है। इसी तरह वैश्य और शूद्र भी वह अपने कर्मों से ही होता है।

(३४) पूर्णज्ञानी तीर्थङ्कर देव ने ये अहिंसादि गुण बतलाये हैं। इनका आचरण करने वाला आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करता है। सभी कर्मों से मुक्त होने वाले उसी आत्मा को हम ब्राह्मण कहते हैं।

(३५) उपरोक्त गुणों से युक्त जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं वे ही अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं।

(३६) इस प्रकार मुनि के वचन सुन कर विजयघोष ब्राह्मण का संशय दूर हो गया। उसने सम्यक् रूप से मुनि की वाणी को हृदय में धारण किया। जयघोष मुनि को भी उसने पहचान लिया कि ये मेरे भाई हैं।

(३७) प्रसन्न हुए विजयघोष ने हाथ जोड़ कर मुनि से कहा— हे भगवन्! आपने ब्राह्मणत्व का यथार्थ स्वरूप खूब समझाया।

(३८) वस्तुतः आप ही यज्ञों के करने वाले और वेदों के जानने

वाले विद्वान् हैं। ज्योतिष के अंग भी आप जानते है और धर्मों के पारगामी आप ही हैं।

(३६) आप ही अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं। अतएव, हे तपस्वी भिक्षूत्तम! भिक्षा ग्रहण कर आप हम पर अनुग्रह कीजिये।

(४०) (मुनि का उत्तर) हे द्विज! मुझे तुम्हारी भिक्षा की आवश्यकता नहीं है। किन्तु मैं चाहता हूँ कि तुम शीघ्र प्रव्रज्या स्वीकार करो। ऐसा करने से तुम भय रूप आवर्त्त वाले इस भीषण संसार समुद्र में परिभ्रमण न करोगे।

(४१) भोग भोगने वाला कर्मों से लिप्त होता है और भोगों का त्याग करने वाले आत्मा को कर्म छूते भी नहीं हैं। यही कारण है कि भोगी आत्मा संसार में परिभ्रमण करता रहता है और त्यागी आत्मा मुक्त हो जाता है।

(४२) गीले और सूखे मिट्टी के दो गोलों को यदि दीवाल पर फेंका जाय तो दोनों दीवाल से टकरायेंगे और जो गीला होगा वह वहीं पर चिपट जायगा।

(४३) इसी तरह जो दुर्बुद्धि पुरुष विषयासक्त हैं वे कर्मबद्ध हो संसार में फँसे रहते हैं और जो विरक्त हैं वे मिट्टी के सूखे गोले की तरह विषयों में आसक्त नहीं होते और न संसार में ही फँसते हैं।

(४४ इस प्रकार मुनि का श्रेष्ठ धर्मोपदेश सुनकर विजयघोष ब्राह्मण ने जयघोष मुनि के पास दीक्षा धारण की।

(४५) संयम और तप द्वारा पूर्वकृत कर्मों का नाश कर जयघोष और विजयघोष-दोनों मुनि प्रधान सिद्धि गति को प्राप्त हुए।

(उत्तराध्ययन पचीसवां अध्ययन)

६६७--आगम पैंतालीस

स्थानकवासी सम्प्रदाय में प्रामाणिकता की दृष्टि से बत्तीस

सूत्रों को जो विशिष्ट स्थान प्राप्त है, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में वही स्थान पैंतालीस आगमों को प्राप्त है। ग्यारह अंग, बारह उपांग—ये तेईस आगम दोनों सम्प्रदाय में एकरूप से प्रामाणिक हैं। चार छेदसूत्र, चार मूलसूत्र और आवश्यक—ये नौ सूत्र मिलाकर स्थानकवासी सम्प्रदाय में बत्तीस सूत्र मान्य हैं। मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में छः छेदसूत्र, छः मूलसूत्र और दस पइण्णा ये बाईस सूत्र मिलाकर पैंतालीस आगम गिने जाते हैं। बत्तीस सूत्रों के नाम, अंग; उपांग और मूलसूत्रों की श्लोक संख्या के साथ इसी ग्रन्थ में बोल नं० ६६६ में दिये जा चुके हैं। अतएव अंग उपांग को यहाँ न दोहरा कर शेष बाईस आगमों के नाम श्लोक प्रमाण के साथ यहाँ दिये जाते हैं।

छः छेदसूत्र——(१) निशीथसूत्र ८१५ (२) महानिशीथसूत्र ४५४८ (३) बृहत्कल्पसूत्र ४७३ (४) व्यवहार सूत्र ६०० (५) दशाश्रुतस्कन्ध * ८६० (६) जीतकल्प १०८।

छः मूल सूत्र——(१) आवश्यक सूत्र १२५ (२) उत्तराध्ययन सूत्र २००० (३) ओघनिर्युक्ति १३५५, मूलगाथा ११६४ (४) दशवैकालिक ७०० (५) नन्दी सूत्र ७०० (६) अनुयोग द्वार × २००५

---

* दशाश्रुतस्कन्ध का आठवां अध्ययन कल्पसूत्र माना जाता है। इसकी श्लोक संख्या १२१६ है। कल्पसूत्र को श्लोक संख्या साथ में गिनने से दशाश्रुतस्कन्ध की श्लोक संख्या २१०६ हो जाती है। अभिधानराजेन्द्रकोष प्रथम भाग की प्रस्तावना में दशाश्रुतस्कन्ध की श्लोक संख्या १८३५ दी है।

× आगमोदय समिति से प्रकाशित अनुयोग द्वार सूत्र में गाथा १६०४ अनुष्टुप् ग्रन्थाग्र २००५ बतलाया है। अभिधानराजेन्द्र कोष प्रथम भाग की प्रस्तावना में इस सूत्र की श्लोक संख्या १६०० और जैन ग्रन्थावली में १८६६ दी है।

दस पइण्णा (प्रकीर्णक)– (१) चउसरण पइण्ण गाथा ६३ (२) आउर पच्चक्खाण गाथा ८४ (३) महापच्चक्खाण गाथा १४२ (४) भत्त परिण्णा गाथा १७२ (५) तन्दुल वेयालिय* गा० ४०० (६) संथारग पइण्णय गाथा १२३ (७) गच्छाचार पइण्णय गाथा १३७ (८) गणिविज्जापइण्णय*गाथा १०० (९) देविंद थव पइण्णय*गाथा ३०७ (१०) मरण समाहि पइण्णय* गाथा ६६३

इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ६८९ में दस पइण्णा का संक्षिप्त विषय वर्णन दिया गया है।

नोट—छेद सूत्रों में कहीं जीतकल्प के बदले पंचकल्प ११३३ माना गया है। मूल सूत्रों में ओघनिर्युक्ति के बदले कहीं पिण्डनिर्युक्ति मानी जाती है। कई आचार्यों के मतानुसार मूलसूत्र चार ही हैं। उनके मतानुसार नन्दी और अनुयोगद्वार मूलसूत्र में नहीं हैं किन्तु ये दोनों चूलिका ग्रन्थ हैं। आगमोदयसमिति द्वारा प्रकाशित 'चतुःशरणादिमरणसमाध्यन्तं प्रकीर्णकदशकं' में ऊपर लिखे दश प्रकीर्णक प्रकाशित हुए हैं। किन्तु अन्यत्र दश प्रकीर्णक के नाम में गच्छाचारपइण्णय का नाम नहीं मिलता। वहाँ इसके बदले 'चद विज्जग पइण्णय' दिया गया है। कहीं कहीं मरणसमाधि प्रकीर्णक भी दश प्रकीर्णकों में नहीं दिया गया है और उसके बदले वीरस्तवप्रकीर्णक गिना गया है। ऊपर जो श्लोक संख्या दी है वह भी सब जगह एकसी नहीं मिलती, कहीं ज्यादा और कहीं कम देखने में आती है।

(जैनग्रन्थावली) (अभिधानराजेन्द्रकोष प्रथम भाग प्रस्तावना पृष्ठ ३१-३५)

---

* आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित 'चतुःशरणादिमरणसमाध्यन्तं प्रकीर्णकदशकं' में तन्दुल वेयालिय का ग्रन्थ-प्रमाण सूत्र १९ गाथा १३८ है और गणिविज्जापइण्णय में गाथा ८२ हैं। अभिधानराजेन्द्र कोष प्रथम भाग की प्रस्तावना में देविंदथव पइण्णय में गाथा २०० और मरणसमाहिपइण्णय में गाथा ७०० होना बतलाया है।

छियालीसवाँ बोल संग्रह

६६८–गणितयोग्य कालपरिमाण के ४६ भेद

(१) समय–काल का सूक्ष्मतम भाग।

(२) आवलिका-असंख्यात समय की एक आवलिका होती है।

(३) उच्छ्वास–संख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास होता है।

(४) निःश्वास–संख्यात आवलिका का एक निःश्वास होता है।

(५) प्राण–एक उच्छ्वास और निःश्वास का एक प्राण होता है।

(६ स्तोक-सात प्राण का एक स्तोक होता है।

(७) लव–सात स्तोक का एक लव होता है।

(८) मुहूर्त–७७ लव या ३७७३ प्राण का एक मुहूर्त होता है।

(९) अहोरात्र–तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है।

१०) पक्ष-पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष होता है।

(११ मास–दो पक्ष का एक मास होता है।

(१२) ऋतु–दो मास की एक ऋतु होती है।

(१३) अयन-तीन ऋतुओं का एक अयन होता है।

(१४) संवत्सर (वर्ष)–दो अयन का एक संवत्सर होता है।

(१५) युग–पांच संवत्सर का एक युग होता है।

(१६) वर्षशत–बीस युग का एक वर्षशत (सौ वर्ष) होता है।

(१७) वर्षसहस्र–दस वर्षशत का एक वर्षसहस्र (एक हजार वर्ष) होता है।

(१८) वर्षशतसहस्र–सौ वर्षसहस्रों का एक वर्षशतसहस्र (एक लाख वर्ष) होता है।

(१९ पूर्वांग–चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है।

२०) पूर्व–पूर्वांग को चौरासी लाख से गुणा करने से एक पूर्व होता।

(२१) त्रुटितांग–पूर्व को चौरासी लाख से गुणा करने से एक त्रुटितांग होता है।

(२२) त्रुटित -त्रुटितांग को चौरासी लाख से गुणा करने से एक त्रुटित होता है।

इस प्रकार पहले की राशि को ८४ लाख से गुणा करने से उत्तरोत्तर राशियां बनती हैं वे इस प्रकार हैं—

(२३) अटटांग (२४) अटट (२५) अववांग (२६) अवव (२७) हुहुकांग (२८) हुहुक (२९) उत्पलांग (३०) उत्पल (३१) पद्मांग (३२) पद्म (३३) नलिनांग (३४) नलिन (३५) अर्थ निपूरांग (३६) अर्थ निपूर (३७) अयुतांग (३८) अयुत (३९) नयुतांग (४०) नयुत (४१) प्रयुतांग (४२) प्रयुत (४३) चूलिकांग (४४) चूलिका (४५) शीर्ष प्रहेलिकांग (४६) शीर्ष प्रहेलिका।

शीर्षप्रहेलिका १९४ अंकों की संख्या है। ७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७९७३५६९९७५६९६४०६२१८९६६८-४८०८०१८३२९६ इन चौपन अंकों पर १४० बिन्दियाँ लगाने से शीर्षप्रहेलिका संख्या का प्रमाण आता है।

यहाँ तक का काल गणित का विषय माना गया है। इसके आगे भी काल का परिमाण बतलाया गया है पर वह उपमा का विषय है गणित का नहीं।

(अनुयोग द्वार कालानुपूर्वी अधिकार सूत्र ११४) (भगवती सूत्र शतक ६ उ० ७)

९९९–ब्राह्मी लिपि के मातृकाक्षर छियालीस

अ से ह तक तथा क्ष ये ४६ अक्षर ब्राह्मी लिपि के मातृकाक्षर कहे गये हैं। इनमें ऋ ॠ लृ ॡ ळ* ये पांच अक्षर नहीं गिने जाते। ४६ मातृकाक्षर इस प्रकार हैं—

(१–१२) स्वर–अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः।

* यह मराठी ल और ड के बीच का अक्षर है।

(१३-४६) चौतीस व्यंजन-पचीस स्पर्श, चार अन्तःस्थ, चार ऊष्मा और च। क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म-ये पचीस स्पर्श हैं। य र ल व अन्तःस्थ हैं श ष स ह ऊष्मा अक्षर हैं और छियालीसवाँ क्ष अक्षर है।

(समवायांग ४६)

सैंतालीसवां बोल संग्रह

१०००--आहार के सैंतालीस दोष

सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादना दोष, दस एषणा (ग्रहणैषणा) दोष और पांच ग्रासैषणा (मांडला) के दोष-ये सभी मिलाकर आहार के सैंतालीस दोष कहे जाते हैं। सोलह उद्गम और सोलह उत्पादना दोषों का स्वरूप इसी ग्रन्थ के पाँचवें भाग में क्रमशः बोल नं० ८६५ और ८६६ में दिया गया है। एषणा के दस दोषों का स्वरूप इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ६६३ में तथा ग्रासैषणा (मांडला) के दोषों का स्वरूप इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में बोल नं० ३२० में दिया गया है।

अड़तालीसवां बोल संग्रह

१००१-तिर्यञ्च के अड़तालीस भेद

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय-इनके सूक्ष्म, बादर के भेद से आठ एवं पर्याप्त अपर्याप्त के भेद से सोलह भेद होते हैं। सूक्ष्म, प्रत्येक और साधारण के भेद से वनस्पति काय के तीन भेद हैं। पर्याप्त अपर्याप्त के भेद से इन तीन के छः भेद होते हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों के बाईस भेद हुए। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय-इन तीन विकलेन्द्रियों के पर्याप्त अपर्याप्त

के भेद से छः भेद होते हैं। जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प के भेद से तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के पाँच भेद हैं। संज्ञी असंज्ञी के भेद से इन पाँच के दस भेद होते हैं। ये दस पर्याप्त और दस अपर्याप्त इस प्रकार तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के कुल बीस भेद होते हैं। इस प्रकार स्थावर के बाईस, विकलेन्द्रिय के छः और तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के बीस–कुल मिला कर तिर्यञ्च के ४८ भेद होते हैं।

इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ५६३ (नव तत्त्व) में जीव के ५६३ भेदों में तिर्यञ्च के अड़तालीस भेद गिनाये गये हैं।

(पन्नवणा पहला पद सूत्र १० से ३५)

१००२–ध्यान के अड़तालीस भेद

आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के भेद से ध्यान के चार प्रकार हैं। आर्त्तध्यान के चार प्रकार एवं चार लक्षण (लिंग) हैं। रौद्रध्यान के भी चार प्रकार और चार लक्षण हैं। इस प्रकार आर्त्त, रौद्र के प्रत्येक के आठ आठ और दोनों के सोलह भेद हुए। धर्मध्यान के चार प्रकार, चार लक्षण, चार आलम्बन और चार भावना इस प्रकार सोलह भेद हैं। धर्मध्यान की तरह शुक्ल ध्यान के भी चार प्रकार, चार लक्षण, चार आलम्बन और चार भावना इस प्रकार सोलह भेद हैं। इस प्रकार चार ध्यान के कुल अड़तालीस भेद होते हैं।

ध्यान की व्याख्या, ध्यान के प्रकार, ध्यान के लक्षण (लिंग), ध्यान के आलम्बन और ध्यान की भावना इन सभी का विशद वर्णन इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में बोल नं० २१५ से २२८ तक में तथा तीसरे भाग में बोल नं० ५६३ (नौ तत्त्व-आभ्यन्तर तप) में दिया गया है। (औपपातिक सूत्र २० आभ्यन्तर तप अधिकार)

उनपचासवां बोल संग्रह

१००३—श्रावक के प्रत्याख्यान के ४९ भंग

करना, कराना, अनुमोदन करना (करते हुए को भला जानना) ये तीन करण हैं। मन, वचन और काया—ये तीन योग हैं। इनके संयोग से मूल भंग नौ और उत्तर भंग (भांगे) उनपचास होते हैं। नौ भंग ये हैं—(१) तीन करण तीन योग (२) तीन करण दो योग (३) तीन करण एक योग (४) दो करण तीन योग (५) दो करण दो योग (६) दो करण एक योग (७) एक करण तीन योग (८) एक करण दो योग (९) एक करण एक योग। इस प्रकार नौ भंगों से श्रावक भूत काल का प्रतिक्रमण करता है, वर्तमान काल में आश्रव का निरोध करता है और भविष्य के लिये प्रत्याख्यान अर्थात् पाप नहीं करने की प्रतिज्ञा करता है।

१—तीन करण तीन योग

(१) करूँ नहीं कराऊँ नहीं अनुमोदूँ नहीं मन से वचन से काया से

२—तीन करण दो योग

(२) करूँ नहीं कराऊँ नहीं अनुमोदूँ नहीं मन से वचन से
(३) ,, ,, ,, मन से काया से
(४) ,, ,, ,, वचन से काया से

३—तीन करण एक योग

(५) करूँ नहीं कराऊँ नहीं अनुमोदूँ नहीं मन से
(६) ,, ,, ,, वचन से
(७) ,, ,, ,, काया से

४—दो करण तीन योग

(८) करूँ नहीं कराऊँ नहीं मन से वचन से काया से
(९) करूँ नहीं अनुमोदूँ नहीं ,, ,, ,,

(१०) कराऊँ नहीं अनुमोदूँ नहीं, मन से वचन से काया से

५—दो करण दो योग

(११)	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	मन से वचन से
(१२)	,,	,,	मन से काया से
(१३)	,,	,,	वचन से काया से
(१४)	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से वचन से
(१५)	,,	,,	मन से काया से
(१६)	,,	,,	वचन से काया से
(१७)	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से वचन से
(१८)	,,	,,	मन से काया से
(१९)	,,	,,	वचन से काया से

६—दो करण एक योग

(२०)	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	मन से
(२१)	,,	,,	वचन से
(२२)	,,	,,	काया से
(२३)	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से
(२४)	,,	,,	वचन से
(२५)	,,	,,	काया से
(२६)	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से
(२७)	,,	,,	वचन से
(२८)	,,	,,	काया से

७—एक करण तीन योग

(२९)	करूँ नहीं	मन से	वचन से	काया से
(३०)	कराऊँ नहीं	,,	,,	,,
(३१)	अनुमोदूँ नहीं	,,	,,	,,

८—एक करण दो योग

(३२) करूँ नहीं	मन से वचन से
(३३) ,,	मन से काया से
(३४) ,,	वचन से काया से
(३५) कराऊँ नहीं	मन से वचन से
(३६) ,,	मन से काया से
(३७) ,,	वचन से काया से
(३८) अनुमोदूँ नहीं	मन से वचन से
(३९) ,,	मन से काया से
(४०) ,,	वचन से काया से

९—एक करण एक योग

(४१) करूँ नहीं	मन से
(४२) ,,	वचन से
(४३) ,,	काया से
(४४) कराऊँ नहीं	मन से
(४५) ,,	वचन से
(४६) ,,	काया से
(४७) अनुमोदूँ नहीं	मन से
(४८) ,,	वचन से
(४९) ,,	काया से

भूतकाल, वर्तमान काल और भविष्य काल इस प्रकार काल की अपेक्षा उनपचास भंगों को तीन से गुणा करने से १४७ भंग बनते हैं।

(भगवती सूत्र आठवां शतक पांचवां उद्देशा)

मूल भंग तथा उत्तर भंग का यंत्र

अंक	करण	योग	मूलभंग	उत्तरभंग
३३	३	३	१	१
३२	३	२	१	३
३१	३	१	१	३
२३	२	३	१	३
२२	२	२	१	९
२१	२	१	१	९
१३	१	३	१	३
१२	१	२	१	९
११	१	१	१	९
			९	४९

पचासवां बोल संग्रह

१००४-प्रायश्चित्त के पचास भेद

दस प्रकार का प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त देने वाले के दस गुण प्रायश्चित्त लेने वाले के दस गुण, प्रायश्चित्त के दस दोष, दोष प्रतिसेवना के दस कारण ये कुल मिला कर प्रायश्चित्त के पचास भेद कहे जाते हैं।

इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ६३२ (नव तत्त्व) में तथा बोल नं० ६६६, ६७०, ६७१, ६७२, ६६३, में प्रायश्चित्त के पचास भेद व्याख्या सहित दिये गये हैं।

(भगवती सूत्र पच्चीसवा शतक उद्देशा ७)

इकावनवां बोल संग्रह

१००५-आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के इकावन उद्देशे

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन हैं। नौ अध्ययन के इकावन उद्देशे हैं- पहले अध्ययन के सात उद्देशे हैं, दूसरे अध्ययन के छः उद्देशे हैं, तीसरे और चौथे अध्ययन के चार चार उद्देशे हैं, पाँचवें अध्ययन के छः और छठे अध्ययन के ५ उद्देशे हैं, सातवें अध्ययन के सात उद्देशे हैं। इस अध्ययन का विच्छेद हो गया माना जाता है। आठवें अध्ययन के आठ और नवें अध्ययन के चार उद्देशे हैं। इस प्रकार आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनों के कुल ५१ (७+६+४+४+६+५+७+८+४=५१) उद्देशे हैं।

(समवायांग सूत्र ५१)

बावनवाँ बोल संग्रह

१००६–विनय के बावन भेद

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वचन, काया और लोकोपचार के भेद से विनय सात प्रकार का है। इनका स्वरूप और इनके अवान्तर भेद इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ६२३ (नौ तत्त्व) में विस्तार सहित दिये गये हैं। यहाँ दूसरी तरह से विनय के बावन भेद बतलाये जाते हैं।

तीर्थङ्कर, सिद्ध, कुल, गण, संघ, क्रिया, धर्म, ज्ञान, ज्ञानी, आचार्य, स्थविर, उपाध्याय और गणी–इन तेरह की (१) आशातना न करना (२) भक्ति करना (३) उनका बहुमान करना अर्थात् उनके प्रति पूज्यभाव रखना तथा (४) उनके गुणों की प्रशंसा करना। इस प्रकार चार प्रकार से इन तेरह का विनय किया जाता है। तेरह को चार से गुणा करने से विनय के बावन भेद होते हैं। (प्रवचनसारोद्धार ६५ वां द्वार)

१००७–साधु के बावन अनाचीर्ण

सर्वथा परिग्रह त्यागी, छः काय के रक्षक, संयम स्थित साधु महात्माओं के लिये जो बातें अकल्पनीय अर्थात् आचरण योग्य नहीं हैं वे अनाचीर्ण कहलाती हैं। दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में बावन अनाचीर्ण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

(१) औद्देशिक–साधु आदि के निमित्त से तैयार किये गये वस्त्र, पात्र, मकान तथा आहारादि स्वीकार कर उनका सेवन करना।

(२) क्रीतकृत–साधु के लिये जो आहारादि मोल लिया गया हो उसका सेवन करना।

(३) नियाग (नित्यपिण्ड)–आहार पानी के लिये जो गृहस्थ आमन्त्रण करे उसके घर से भिक्षा लेना।

(४) अभ्याहृत–घर या गाँव आदि से साधु के लिये सामने लाया हुआ आहार आदि लेना।

(५) रात्रि भोजन–रात्रि में आहार लेना, दिन में लेकर रात को खाना इत्यादि रूप रात्रि भोजन का सेवन करना।

(६) स्नान–देश स्नान और सर्व स्नान करना।

(७) गन्ध–चन्दन कपूरादि सुगन्धित वस्तुओं का सेवन करना।

(८) माल्य–पुष्पमाला का सेवन करना।

(९) वीजन–पंखे आदि से हवा लेना।

(१०) सन्निधि–घृत गुड़ आदि वस्तुओं का संचय करना।

(११) गृहिमात्र–गृहस्थ के वर्तनों में भोजन करना।

(१२) राजपिण्ड–राजा के लिये तैयार किया गया आहार लेना।

(१३) किमिच्छक–'तुम को क्या चाहिये?' इस प्रकार याचक से पूछ कर जहाँ उसके इच्छानुसार दान दिया जाता है ऐसी दानशाला आदि का आहार लेना।

(१४) संबाधन–अस्थि, मांस, त्वचा और रोम के लिये सुख-कारी मर्दन अर्थात् हाथ पैर आदि अवयवों को दबाना।

(१५) दन्त प्रधावन–अंगुली से दांत साफ करना।

(१६) संप्रश्न–गृहस्थ से कुशल आदि रूप सावद्य प्रश्न पूछना।

(१७) देह प्रलोकन–दर्पण आदि में अपना शरीर देखना।

(१८) अष्टापद नालिका–नाली से पाशे फेंक कर अथवा और प्रकार से जुआ खेलना।

(१९) छत्रधारण–स्वयं छत्र धारण करना या कराना।

(२०) चिकित्सा-चिकित्सा अर्थात् रोग का इलाज करना। जिन कल्पी साधुओं के लिये रोग होने पर उसकी प्रतिक्रिया के

लिये औषधि आदि लेने का सर्वथा निषेध है। स्थविर कल्पी साधु के लिये भी सावद्य औषधि लेना मना है तथा विकारोत्पादक बलवर्धक औषधियों का सेवन भी निषिद्ध है।

(२१) उपानह–जूते मौजे आदि पहनना।

(२२) अग्नि का आरम्भ करना।

(२३) शय्यातर पिण्ड–साधु के रहने के लिये शय्या आदि देने वाला गृहस्थ शय्यातर कहलाता है,उसके घर से आहारादि लेना।

(२४) आसन्दी–बेंत आदि के बने हुए आसन पर बैठना।

(२५) पर्यङ्क–पलंग, मांचे आदि का उपयोग करना।

(२६) गृहान्तर निषद्या–गृहस्थ के घर जाकर बैठना अथवा दो घरों के बीच बैठना।

(२७) गात्रोद्वर्तन–मैल उतारने के लिये शरीर पर उबटन करना।

(२८) गृही वैयावृत्य–गृहस्थ की वैयावृत्य करना।

(२९) आजीववृत्तिता–जाति कुल आदि बता कर भिक्षा लेना।

(३०) तप्तानिर्वृत्तभोजित्व–मिश्र पानी का भोगना।

(३१) आतुरस्मरण–क्षुधादि से पीड़ित होने पर पहले भोगे हुए भोज्य पदार्थों को याद करना।

(३२) सचित्त मूले का सेवन करना।

(३३) सचित्त अदरख (आदा) का सेवन करना।

(३४) सचित्त इक्षुखण्ड (गंडेरी) का सेवन करना।

(३५) वज्रकन्द आदि कन्दों का सेवन करना।

(३६) सचित्त मूल (जड़) का सेवन करना।

(३७) आम, नींबू आदि सचित्त फलों का सेवन करना।

(३८) तिल आदि सचित्त बीजों का सेवन करना।

(३९) सचित्त सौवर्चल (सन्चल) नमक का सेवन करना।

(४०) सचित्त सैन्धव (सेंधा) नमक का सेवन करना।

(४१) सचित्त रुमा लवण (रोमक चार) का सेवन करना।

(४२) सचित्त समुद्र का नमक सेवन करना।

(४३) सचित्त ऊपर नमक का सेवन करना।

(४४) सचित्त काले नमक (सैंधव लवण, पर्वत के एक देश में उत्पन्न होने वाले) का सेवन करना।

(४५) धूपन—अपने वस्त्रादि को धूप देकर सुगन्धित करना।

(४६) वमन—औषधि लेकर वमन करना।

(४७) वस्तिकर्म (वत्थिकम्म)—मलादि की शुद्धि के लिये वस्तिकर्म करना।

(४८) विरेचन—पेट साफ करने के लिये जुलाब लेना।

(४९) अंजन—आँखों में अंजन लगाना।

(५०) दन्तकाष्ठ (दंतवणे)—दतौन से दाँत साफ करना।

(५१) गात्राभ्यङ्ग—सहस्रपाक आदि तैलों से शरीर का मर्दन।

(५२) विभूषण—वस्त्र, आभूषणों से शरीर की शोभा करना।

यहाँ अनाचीर्ण का स्वरूप टीका अनुसार दिया गया है। किन्तु दो एक बातों में टीका से भिन्नता है। टीका में ५३ अनाचीर्ण गिने हैं। किन्तु ५२ अनाचीर्ण प्रसिद्ध होने से यहाँ बावन ही दिये गये हैं। टीकाकार ने सांभर नमक को अलग अनाचीर्ण माना है इसी लिये वहाँ एक संख्या बढ़ गई है। इसके सिवाय टीका में राजपिण्ड और किमिच्छक एक अनाचीर्ण में गिने हैं पर यहाँ अलग अलग दिये गये हैं। अष्टापद और नालिका का अनाचीर्ण यहाँ एक माना है किन्तु टीका में दोनों अलग अलग हैं। संचल और काला नमक एक है ऐसा कई लोग समझते हैं और इसलिये यहाँ शंका हो सकती है पर बात ऐसी नहीं है। दोनों नमक जुदे जुदे हैं।

(दशवैकालिक तीसरा अध्ययन सटीक)

त्रेपनवाँ बोल संग्रह

१००८–मोहनीय कर्म के त्रेपन नाम

यहाँ मोहनीय कर्म से चार कषाय विवक्षित हैं। चार कषायों के त्रेपन नाम भगवती सूत्र में इस प्रकार दिये हैं–क्रोध के दस नाम, मान के बारह नाम, माया के पन्द्रह नाम, लोभ के सोलह नाम।

क्रोध के दस नाम ये हैं–क्रोध, कोप, रोष, दोष, अक्षमा संज्वलन, कलह, चांडिक्य (रौद्र आकार बनाना), भण्डन और विवाद।

मान के बारह नाम–मान, मद, दर्प, स्तम्भ, गर्व, आत्मोत्कर्ष, परपरिवाद, उत्कर्ष, अपकर्ष, उन्नत, उन्नाम और दुर्नाम।

माया के पन्द्रह नाम--माया, उपधि, निकृति, वलय, गहन, नूम, कल्क, कुरूपा, जिह्मता, किल्विष, आदरणता, गूहनता, वंचनता, प्रतिकुंचता और सातियोग।

लोभ के सोलह नाम–लोभ, इच्छा, मूर्च्छा, कांक्षा, गृद्धि, तृष्णा, भिध्या, अभिध्या, आशंसना, प्रार्थना, लालपनता, कामाशा भोगाशा, जीविताशा, मरणाशा, नन्दीराग।

समवायांग ५२ वें समवाय में मोहनीय कर्म के ५२ नाम कहे हैं–क्रोध के दस, मान के ग्यारह, माया के सत्रह और लोभ के चौदह। क्रोध के नाम दोनों में एक सरीखे हैं। मान के नामों में दुर्नाम के सिवाय शेष ग्यारह नाम वे ही हैं। माया के सत्रह नामों में उपरोक्त पन्द्रह नाम एवं दंभ और कूट–ये सत्रह नाम दिये हैं। लोभ के उपरोक्त सोलह नामों में से आशंसना, प्रार्थना और लालपनता ये तीन नाम समवायांग में नहीं हैं। नन्दीराग को एक न गिन कर समवायांग में नन्दी और राग दो नाम गिने हैं।

इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ७०२ में क्रोध के नाम, चौथे भाग में बोल नं० ७६० में मान के नाम एवं पांचवें भाग के

बोल नं० ८३६ व ८८० में माया के नाम और बोल नं० ८३७ में लोभ के नाम दिये गये हैं। (समवायांग ५२) (भगवती शतक १२ उ० ५)

चौपनवां बोल संग्रह

१००९–चौपन उत्तम पुरुष

भरत ऐरवत क्षेत्रों में प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में चौपन उत्तम पुरुष जन्म धारण करते हैं। चौपन उत्तम पुरुष ये हैं–चौबीस तीर्थङ्कर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव और नौ वासुदेव।

नोट—भरतक्षेत्र के इस अवसर्पिणी के बलदेव वासुदेवों के नाम इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ६४६, ६४७ में तथा बारह चक्रवर्ती के नाम चौथे भाग में बोल नं० ७८३ में दिये गये हैं। तीर्थङ्करों के नाम वर्णन सहित इसी ग्रन्थ के छठे भाग में बोल नं० ९२७ से ९३१ तक में दिये गये हैं। (समवायांग ५४)

पचपनवां बोल संग्रह

१०१०–दर्शनविनय के पचपन भेद

दर्शनविनय के दो भेद हैं- शुश्रूषाविनय और अनाशातनाविनय। शुश्रूषा विनय के दस और अनाशातना विनय के पैंतालीस भेद होते हैं। दोनों के ये भेद मिला कर दर्शनविनय के पचपन भेद हैं।

इन पचपन भेदों का वर्णन इसी ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ६३३ (नौ तत्त्व, में निर्जरा के भेदों में दिया गया है।

छप्पनवां बोल संग्रह

१०११–छप्पन अन्तरद्वीप

जम्बूद्वीप में चुल्लहिमवान् पर्वत है। पूर्व और पश्चिम की तरफ

लवणसमुद्र के जल से जहाँ इस पर्वत का स्पर्श होता है वहीं इस के दोनों तरफ चारों विदिशाओं (कोण) में गजदन्ताकार दो दो दाढ़ाएं निकली हुई हैं। एक एक दाढ़ा पर सात सात अन्तरद्वीप हैं। इस प्रकार चार दाढ़ाओं पर अठाईस अन्तरद्वीप हैं।

पूर्व दिशा में ईशानकोण में जो दाढ़ा निकली है उसमें सात अन्तरद्वीप इस प्रकार हैं-(१) लवण समुद्र के पर्यन्त भाग से तीन सौ योजन जाने पर पहला एकोरुक नाम वाला अन्तरद्वीप आता है। यह अन्तरद्वीप जम्बूद्वीप की जगती से तीन सौ योजन दूर है। इसका विस्तार तीन सौ योजन का और इसकी परिधि कुछ कम ६४६ योजन की है। (२) एकोरुक द्वीप से चार सौ योजन जाने पर दूसरा हयकर्ण अन्तरद्वीप आता है। हयकर्ण अन्तरद्वीप जम्बूद्वीप की जगती से चार सौ योजन दूर है। यह चार सौ योजन विस्तार वाला है और इसकी परिधि कुछ कम १२६५ योजन की है। (३) हयकर्ण द्वीप से पाँच सौ योजन आगे तीसरा आदर्शमुख नामक अन्तरद्वीप है। यह द्वीप जम्बूद्वीप की जगती से पाँच सौ योजन दूर है। इसकी लम्बाई चौड़ाई पाँच सौ योजन की और परिधि १५८१ योजन की है। (४ आदर्श मुख अन्तरद्वीप से छः सौ योजन आगे चौथा अश्वमुख अन्तर-द्वीप है। जम्बूद्वीप की जगती से यह छः सौ योजन दूर है। इसका विस्तार छः सौ योजन का और परिधि १८६७ योजन की है। (५) चौथे अन्तरद्वीप से सात सौ योजन आगे पाँचवां अश्वकर्ण अन्तरद्वीप है। यह जम्बूद्वीप की जगती से सात सौ योजन दूर है। इसका विस्तार सात सौ योजन है और परिधि २२१३ योजन की है (६) अश्वकर्ण से आठ सौ योजन आगे छठा उल्कामुख नामक अन्तरद्वीप है। जगती से यह आठ सौ योजन दूर है। इसका विस्तार आठ सौ योजन का और परिधि २५२६ योजन

की है। (७) उल्कामुख से नौ सौ योजन आगे सातवाँ घनदन्त नामक अन्तरद्वीप है। यह जगती से नौ सौ योजन दूर है। इसका विस्तर नौ सौ योजन का और परिधि २८४५ योजन की है। इन सातों अन्तरद्वीपों में उत्तरोत्तर सौ सौ योजन का विस्तार बढ़ता गया है। परिधि में पहले से आगे उत्तरोत्तर ३१६ योजन बढ़ते गये हैं। जितना इनका विस्तार है उतने ही ये जगती से दूर हैं।

ईशान कोण की दाढ़ा पर सात अन्तरद्वीप जिस क्रम से स्थित हैं और जिस विस्तार और परिधि वाले हैं। हिमवान् पर्वत की आग्नेयकोण, नैऋतकोण और वायव्यकोण की दाढ़ाओं पर भी उसी क्रम से सात सात अन्तरद्वीप हैं। ये भी विस्तार और परिधि में इसके अनुसार ही हैं। चारों कोणों की दाढ़ाओं पर व्यवस्थित २८ अन्तरद्वीपों के नाम नीचे लिखे अनुसार हैं—

सं०	ईशान कोण	आग्नेयकोण	नैऋतकोण	वायव्यकोण
१	एकोरुक	आभासिक	वैषाणिक	नाङ्गोलिक
२	हयकर्ण	गजकर्ण	गोकर्ण	शष्कुलीकर्ण
३	आदर्शमुख	मेण्ढमुख	अयोमुख	गोमुख
४	अश्वमुख	हस्तिमुख	सिंहमुख	व्याघ्रमुख
५	अश्वकर्ण	हरिकर्ण	अकर्ण	कर्णप्रावरण
६	उल्कामुख	मेघमुख	विद्युन्मुख	विद्युद्दन्त
७	घनदन्त	लष्टदन्त	गूढदन्त	शुद्धदन्त

चुल्लहिमवान् पर्वत की तरह ही शिखरी पर्वत के पूर्व पश्चिम के चारों कोणों में चार दाढ़ाएं हैं और एक एक दाढा पर उपरोक्त नाम वाले सात सात अन्तरद्वीप हैं। इस प्रकार दोनों पर्वतों पर ५६ अन्तरद्वीप हैं। प्रत्येक अन्तरद्वीप चारों तरफ पद्मवरवेदिका से शोभित है और पद्मवरवेदिका भी वनखण्ड से घिरी हुई है।

इन अन्तरद्वीपों में अन्तरद्वीप के नाम वाले ही युगलिया मनुष्य

रहते हैं। इनके वज्रऋषभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान होता है। इनकी अवगाहना आठ सौ धनुष की और आयु पल्योपम के असंख्यात भाग प्रमाण है। इनके चौसठ पांसलियाँ होती हैं। छः मास आयु शेष रहने पर ये युगल सन्तान को जन्म देते हैं। ७९ दिन सन्तान का पालन करते हैं। ये अल्पकषायी, सरल और सन्तोषी होते हैं। यहाँ की आयु भोग कर ये देवलोक में पैदा होते हैं।

(पन्नवणा पहला पद टीका) (प्रवचन सा० २६२द्वार) (जीवाभिगम प्रति० ३)

सतावनवां बोल संग्रह

१०१२--संवर के सत्तावन भेद

पाँच समिति, तीन गुप्ति, बाईस परीषह, दस यतिधर्म, बारह भावना और पाँच चारित्र--ये संवर के सत्तावन भेद कहे जाते हैं।

पाँच समिति और तीन गुप्ति का स्वरूप इसी ग्रन्थ के पहले भाग में क्रमशः बोल नं० ३२३ और १२८ ख में तथा पाँच चारित्र का स्वरूप नं० ३१५ में दिया गया है। दस यतिधर्म का स्वरूप इस ग्रन्थ के तीसरे भाग में बोल नं० ६६१ में तथा बारह भावना का स्वरूप चौथे भाग में बोल नं० ८१२ में दिया गया है। बाईस परीषह इस ग्रन्थ के छठे भाग में बोल नं० ९२० में दिये गये हैं।

अंतिम मंगल--

महावीर प्रभुं वन्दे, भवभीति विनाशकम्।
मंगलं मंगलानां च, लोकालोक प्रदर्शकम्॥
श्रीमज्जैन सिद्धान्त, बोल संग्रह संज्ञके।
ग्रन्थे भागः समाप्तोऽयं, सप्तमो यत्प्रसादतः॥
वैक्रमे द्विसहस्राब्दे, पञ्चम्यां फाल्गुने सिते।
सोमे कृतिरियं पूर्णा, भूयाद्भव्यहितावहा॥